ओ३म्
आर्योदय
हिन्दी साप्ताहिक
काया कल्प
विशेषांक
१.५०
संवत २०२८

'काया-कल्प' के लेखक
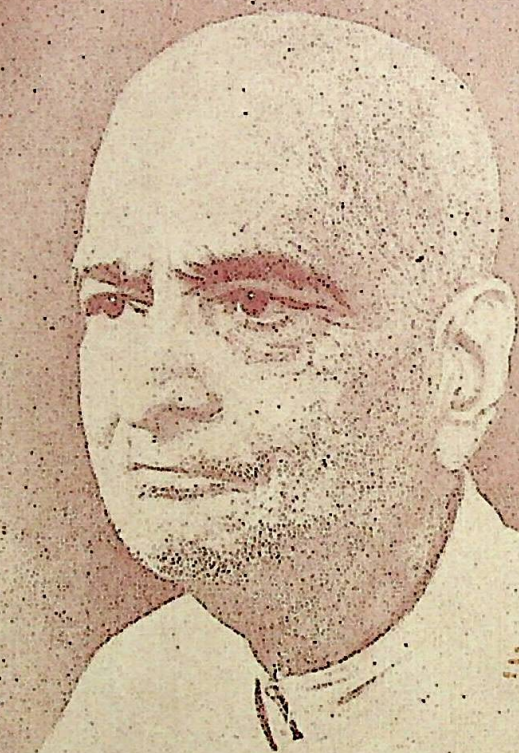
विद्वद्वर्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

"आर्योदय" हिन्दी साप्ताहिक

का

(विशेषांक)

काया-कल्प

●

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती द्वारा लिखित
अनमोल ग्रन्थ

●

२६ फरवरी
१९६७-६८

बोधरात्रि
संवत् २०२४

कार्यालय—
आर्योदय हिन्दी साप्ताहिक
३५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१

—सम्पादक—

रघुवीरसिंह शास्त्री
"संसद् सदस्य"
भारतेन्द्रनाथ साहित्यालंकार

बोधरात्रि सम्वत् २०२४
२६ फरवरी १९६८

मूल्य १-५० पैसे

वार्षिक मूल्य १२)
विदेश में एक पौंड

मुद्रक व प्रकाशक भारतेन्द्रनाथ द्वारा स्वामिनी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के लिए सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज, देहली-६ में मुद्रित

सम्पादकीय

क्रांति की आधार शिला

संसार दो भागों में बंटा है, एक वे हैं जो समाज को वर्ग विहीन बनाना चाहते हैं। नयी धरती और विकास के नाम पर वे मनुष्य मनुष्य को समानता के स्तर पर लाना चाहते हैं।

इस के साथ-साथ आर्य समाज सृष्टि के आरम्भ काल की ईश्वरीय व्यवस्था—वर्ण व्यवस्था में विश्वास रखता है। उसकी मान्यता है कि जन्म से एक जाति, और समान होते हुए भी—गुण, कर्म, स्वभाव, वातावरण और संस्कारों के आधार पर मनुष्य मात्र को चार विभागों में बांटा जाना अनिवार्य है। ये विभाग सृष्टि की व्यवस्था चलाने के लिए अनिवार्य हैं और इनके बिना किसी भी देश का कार्य न कभी चला है न चल सकेगा।

इसी मान्यता का पृष्ठपोषण प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "कायाकल्प" में किया है। यह पुस्तक बहुत दिनों से अप्राप्य थी। अतः हमारी प्रार्थना पर पुस्तक के स्वामी वर्णाश्रम संघ ने इसके प्रकाशन की उदारता पूर्वक अनुमति दी। हम उसके आभारी हैं।

हमारा विश्वास है कि सहस्रों अंधकार में भटकते, वर्गविहीन समाज की व्यवस्था में विश्वास रखने वाले व्यक्ति इसके प्रकाश में 'सत्य' मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

विद्वद्वर्य स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, का शुभाशीर्वाद सदा हमें प्रेरणा देता रहा है.........उनका आभार किन शब्दों में प्रगट करें ?

परमात्मा हमें शक्ति दें कि हम वर्णाश्रम व्यवस्था का संदेश धरती पर फैला सकें—

बोधरात्रि संवत् २०२४ **—भारतेन्द्र नाथ**

काया-कल्प

राष्ट्र स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नव निर्माण करने जा रहा है।

मार्क्सवाद, साम्यवाद, समाजवाद, न जाने कितने विदेशी वादों का आक्रमण इस समय हो रहा है।

दूसरी ओर, एक नवीन जागृति भी देखने में आ रही है, जो भारत में भारतीयता का साम्राज्य चाहती है।

इस साम्राज्य रूपी स्थापना न केवल चाहने से होगी, न नारों से, इसके लिये आवश्यक है सब वादों का तुलनात्मक अध्ययन, तथा भारतीय संस्कृति का युक्तिसंगत स्वरूप जनता के सामने रखना।

यही इस पुस्तक का ध्येय है।

इससे न केवल भारत का अपितु समस्त मानव समाज का कायाकल्प हो, यही लेखक की आशा है, तथा प्रभु से प्रार्थना है।

भारतीय संस्कृति का युक्ति संगत स्वरूप इस पुस्तक में देखिये।

—लेखक

नामकरण

वह शैशव कितना मुग्ध था और कितना मंगलमय था। मानव-जाति ने हिमाचल के उत्तुङ्गतम मैदान में, सूर्य की पुण्य किरणों के मंगल गान में, जगदम्बा का स्तन्यपान करते हुए जन्म लिया था। भोलापन था, अज्ञान न था। स्फूर्ति थी, चञ्चलता न थी। सरलता थी, दरिद्रता न थी। प्रेम था, मोह न था। उत्साह था, ईर्ष्या न थी। दम था, दमन न था। आत्म गौरव था, मद न था। अङ्ग-अङ्ग में यौवन की शक्ति थी। हृदय में शैशव का भोलापन था। मस्तिष्क में वृद्धावस्था का परिमापक था। आत्मा में शान्ति थी। जिस प्रकार तपोवन में विरोधी-जीव इकट्ठे हो जाते हैं, इसी प्रकार चञ्चलता, प्रताप और प्रशान्ति इकट्ठे बसते थे। धरती फल-फूल से लदी थी।

आज वह मानव-जाति परस्पर कलह, ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, अज्ञान, दरिद्रता—सब शत्रुओं के घोर आक्रमण से जर्जरित हो चुकी है। जिस प्रकार एक ही वट वृक्ष की जटाओं से, तथा, पवन-प्रवाह के उड़ाए हुए उसके ही बीजों से, उत्पन्न हुए अनेक वट वृक्ष अपनी एकता न पहचान कर एक-दूसरे को खाने दौड़ते हैं, वही अवस्था आज मानव-जाति की है। यह काया आज इतनी जर्जर हो चुकी है, कि पहिचानी भी नहीं जाती। आज इसके कायाकल्प का दिन आ पहुंचा है।

कायाकल्प में लोग विश्वास रक्खें या न रक्खें, यह आज सर्वत्र विख्यात हो चुका है। ग्रन्थों में इसका वर्णन है। सुश्रुत में जो इसका वर्णन है वह कभी प्रत्यक्ष देखने में नहीं आया। पाश्चात्य देशों में बन्दर की गिल्टियों से कायाकल्प होता है। पर उसके प्रचार के दिन भी अभी दूर हैं। परन्तु यह मानव-जाति का कायाकल्प तो उस प्रकार की विवादास्पद वस्तु नहीं है। पिछले दो सौ वर्षों में मानव-जाति के अनेक अङ्ग अपनी काया पलट कर चुके हैं। यह भारत-भूमि धरती का उत्तमाङ्ग है। कितना दुःख है, कि इसकी

जरा (बुढ़ापा) अभी दूर नहीं हुई। जब तक इसकी काया न पलटेगी, मानव जाति का सर्वाङ्ग काया-कल्प नहीं होगा। उस प्रभु की कृपा से आज से ६४ वर्ष‡ पूर्व एक महायोगी ने इसके कायाकल्प का आरम्भ किया था। यह कायाकल्प भारत का नहीं मानव-जाति का है। भारत में उसका आरम्भ तो इसलिए हुआ, कि उत्तमाङ्ग के सुधार होते ही शेष सब अङ्ग स्वयं यौवन की ओर भागने लगते हैं। भारत को धरती का उत्तमाङ्ग इसलिए कहते हैं क्योंकि जो मानव-जाति की एकता धरती के शेष देशों के लिए एक मधुर इतिहास (इति+ह+आस) है।

कायाकल्प की प्रक्रिया मनुष्य-देह को नवीन करने में ६ मास लेती है। फिर मानव-जाति के विशाल-देह को नवीन करने में ६ शताब्दी वा ६ सहस्राब्दी भी लग जावें, तो धर्म के प्रथम लक्षण धैर्य को गँवाना नहीं चाहिए।

जिस यज्ञ का भारत में आरम्भ ऋषि दयानन्द ने किया था, जिसमें महाकवि रवीन्द्र, महात्मा कार्लमार्क्स, महात्मा गाँधी आदि प्रत्यक्ष रूप से अपने-आप को आहुति कर गए और कर रहे हैं, जिसमें महामना भगवानदास तथा महामना वेल्ज-सरीखे मुनि लोग ज्ञानामृतधारा का प्रवाह कर रहे हैं, जिसमें वीर लेनिन, वीर मुसोलिनी तथा हिटलर, प्रत्यक्ष में विरोधी होते हुए भी अनजाने, हविर्दान कर चुके हैं, उसी कायाकल्प यज्ञ में अब आगे क्या करना होगा, यह इस लघु-निबन्ध में लिखा गया है। इसमें मेरा कुछ नहीं है। ब्रह्म से लेकर दयानन्द पर्यन्त ऋषियों ने जो कहा है उसी के मन्थन से यह रसायन मौद्गल्य ने तैयार किया है। मैं तो यही कहूँगा कि:—

एवम् परम्पराप्राप्तमिमम् ब्रह्मर्षयो विदुः।

बस, इसी रसायन को प्रजा के हाथ में देने के लिए यह चमूपात्र है। विद्वज्जन अपने नेत्र, श्रोत्र चमसों से करावें। इसीलिए यह कायाकल्पकारी सोमरस तैयार किया गया है। जो इस पात्र को ठोकर भी मारेंगे, उन पर भी यदि कोई छींटा इसका पड़ जायेगा, तो यह उनका कल्याण करेगा। पीने वाले

‡जब यह पुस्तक लिखी गई थी, तब ६४ वर्ष हुए थे, इसलिए यह बदला नहीं गया।

तो अद्भुत देह पावेंगे ही। यही परम विनीत भाव से मौद्गल्य का ऋषि-तर्पण है। इससे समस्त वर्तमान और भावी ऋषि लोग तृप्त हों, जिससे भूतकाल के ऋषियों का प्रयत्न सफल हो, यही सिर झुकाकर प्रार्थना है। अन्त में—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

अथर्व ० ३।३०।३

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे।

अथर्व० ३।३०।२

जाया पत्ये मधुमतीम् वाचं वदतु शान्तिवाम्।

यजु० ३६।१०

"भाई भाई से द्वेष न करे और बहिन बहिन से।" "पत्नी पति के लिए मधु भरी, शान्ति युक्त वाणी बोले।" "हम सब प्राणियों को मित्र की आँख से देखें।"...

मौदगल्य—

विषय-सूचि

विषय		पृष्ठ

: १ :

धर्म क्या है ?

सूर्य उदय हुआ है वा नहीं, यह बात कह कर बतानी नहीं पड़ती। प्रकाश और गर्मी स्वयं इस बात का परिचय देते हैं कि सूर्योदय हो गया। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य धर्मात्मा हो तो उसका परिचय यह कर नहीं दिया जा सकता कि वह मनुष्य धर्मात्मा है, क्योंकि उसने सौ बार नाम का जाप किया है, हजार बार गायत्री जपी है, एवं वह नित्य धर्म-पुस्तक का पाठ करता है। कोई मनुष्य सचमुच धर्मात्मा है या नहीं, इसका पता इस बात से लगता है कि उसके चारों ओर रहने वालों पर उसके व्यवहार से कोई सुखदायक प्रभाव पड़ता है या नहीं। अपने चारों ओर की अवस्थाओं में परिवर्तन धर्मात्मा–रूपी सूर्य की धूप है। बस, यदि हम यह जानना चाहें कि हम धर्मात्मा हैं या नहीं, तो इसे हम अपने जाप और पूजा पाठ से नहीं नाप सकते। इसे हम अपने चारों ओर होने वाले सुखदायक परिवर्तन से जान सकते हैं। लैम्प में प्रकाश है वा नहीं, इसे हम इस बात से नहीं नाप सकते कि उसमें पूरा तेल भरा है वा नहीं। लैम्प के प्रकाश का माप केवल इस बात से हो सकता है कि उसके चारों ओर का अन्धकार दूर हुआ है या नहीं। सूर्य बिना तेल-बत्ती के प्रकाशमान है। एवं, बुझा हुआ दीपक तेल-बत्ती के होते हुए भी प्रकाशहीन है। इसी प्रकार कई मनुष्य पूजा-पाठ के बिना भी धर्मात्मा हैं, वे सूर्यवत् हैं और कई मनुष्य पूजा-पाठ करते रहने पर भी धर्महीन हैं। वे पाखण्डी हैं। परन्तु साधारण मनुष्यों में लैम्प के समान प्रकाश उत्पन्न करने के लिए पूजा-पाठ रूपी तेल-बत्ती की आवश्यकता रहती है। जो मनुष्य साधारण होते हुए भी पूजा पाठ से तथा सत्संग से हीन हैं उनका दिया भी बुझा रहता है। यह बात दूसरी है कि उनके दिए बुझने का कारण पाखण्ड का धूआँ नहीं, अभिमान की आंधी है। दिया धूएँ से बुझे चाहे आँधी से—इससे उसके प्रकाशहीन होने

में कुछ अन्तर नहीं आता। जिस मुहल्ले में तुम रहते हो यदि उसकी नालियाँ दुर्गन्ध-युक्त हैं और चारों ओर कीचड़ सड़ रहा है, मच्छरों की बस्तियाँ बस रही हैं, लोग मैले-कुचैले अनपढ़, रोगों के मारे और निर्धनता के सताये हैं, और तुम इन अवस्थाओं में परिवर्तन करने के लिए कुछ नहीं कर रहे हो तो मत समझो तुम धर्मात्मा हो। चाहे तुम कितनी लम्बी समाधि भी लगाते हो, कितना भजन-कीर्तन करते हो, कितने घण्टे-घड़ियाल बजाते हो, और कितनी भी सामग्री फूंक देते हो, तो भी तुम धर्मात्मा नहीं हो। यदि तुम्हारे मन्दिर की आरती ने, तुम्हारी लम्बी सन्ध्याओं ने और तुम्हारी पाँच नमाजों ने तुम्हारी आँखों को गरीबों का दुःख देखने के लिए, तुम्हारे कानों को उनकी दर्द-भरी आहें सुनने के लिए और तुम्हारे हाथों को उनके कष्ट-निवारण के लिए विवश नहीं किया, तो तुम आँखें रखते भी अन्धे हो, कान रखते भी बहरे हो, हाथ रखते भी लूले हो। संसार में आज तक जितने भी महात्मा धर्म का प्रचार करने आए, वह इस ही समवेदना की भावना का प्रकाश तुम्हारे दिए-बत्ती में जलाने आये थे। पादरी लोग जब कहते हैं कि मसीह ने अन्धों को आँखें दीं, बहरों को कान दिये, लूले-लङ्गड़ों को हाथ-पैर दिये, तो वह उस महात्मा के कारनामों को ठीक रूप में पेश नहीं करते। संसार के सभी महात्माओं ने अन्धों को आँखें दीं, बहरों को कान दिये, लूले लंगड़ों को हाथ-पैर दिये। पर इस अभागे संसार ने काम, क्रोध, मोह, लोभ, आलस्य, प्रमाद आदि के घोर विष से अपने-आपको अन्धा, बहरा, लूला, लँगड़ा बना डाला। जिस समय महात्मा पुरुषों की प्रेरणा से जागृत हुई समवेदना की भावना हमें अपने चारों ओर फैली हुई बिगड़ी अवस्था का परिवर्तन करके, इस धरती को साफ-सुथरी और आनन्द-भरी बनाने के लिए कटिबद्ध करती है, उस समय हमारी खोई हुई आँखें वापिस मिल जाती हैं, हमारे बहरे कान सुनने लगते हैं, और हमारे कटे हुए हाथ-पैर फिर हरे हो जाते हैं। बस, जहाँ यह अपने चारों ओर की अवस्था को सुखमय दशा में परिवर्तन करने की प्रबल भावना जीती है, वहीं धर्म है। यही धर्म का स्वरूप है।

———

: २ :

धरती की वर्तमान अवस्था

यह धरती एक-छोटा सा ब्रह्माण्ड है। अर्थात्, परब्रह्म की शक्ति के गर्भ से निकले हुए अनेक अंडों में से एक छोटा-सा अण्डा है। इसका व्यास ८ हजार मील लम्बा और परिधि २४ हजार मील है। इस पर इस समय की मनुष्य-गणना के अनुसार लगभग २ अरब १० करोड़ मनुष्य बसते हैं। यदि ये सब मनुष्य एक भाषा बोलें, एक मर्यादा में चलें, और इस धरती माता को अपनी माता समझें, समस्त मानव-समाज की सेवा को, अथवा, प्राणि-मात्र की सेवा को परमात्मा की आराधना का सबसे बड़ा साधन समझें, तो इस धरती पर एक अवर्णनीय सुख का साम्राज्य हो जाये। परन्तु क्या इस समय धरती की जैसी अवस्था होनी चाहिए वैसी है ? क्या मानव जाति की एक मर्यादा है ? क्या सम्पूर्ण मानव राष्ट्र को भूमिमाता से प्रेम है ? क्या विश्व की एक भाषा है ? इस समय भूमिमाता ७० मातृभूमियों में विभक्त है ? इस समय अकेले भारत में २३ मुख्य भाषाएँ बोली जाती हैं। भारत में छोटी-बड़ी सब मिलाकर कुल २०० भाषाएँ हैं। विश्व का अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है। यदि छोटे-छोटे भाषा भेदों को भुला दें; तो भी विश्व में इस समय लगभग १०० मुख्य भाषायें बोली जाती हैं। मर्यादाओं की बात तो पूछो ही मत। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना, तुण्डे तुण्डे सरस्वती," अर्थात्, "प्रत्येक खोपड़ी में अलग-अलग मति है और हरेक मुंह में अलग-अलग बात।"

सबसे अधिक कष्ट की बात तो यह है; कि मानव-जाति के शत्रु तो आपस में संगठित हैं, पर मानव-जाति आपस में इतनी विभक्त है। संसार के किसी देश के लोगों से पूछिये; कि तुम्हारे देश पर यदि कोई शत्रु आक्रमण

करे; तो तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है ? वे निश्चित रूप से उत्तर देंगे, जी जान से उस शत्रु से लड़ना। यदि उनसे पूछा जाय; कि जब शत्रु ने आक्रमण किया हो उस समय जो लोग आपस में लड़ें, उन्हें आप क्या कहेंगे ? तो वे निश्चित रूप से ऐसे मनुष्यों को हत्यारे, देश-द्रोही आदि नामों से पुकारेंगे। किन्तु क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है, कि मानव जाति के शत्रुओं के घोर आक्रमण की बाढ़ सिर पर रहते हुए भी, वे लोग जो मानव जाति का सर्वोत्तम हित करने की योग्यता रखते हैं, परस्पर लड़ने में व्यस्त हैं। यदि इन भाइयों को कोई कहे; कि तुम देश-द्रोही हो; राष्ट्र हत्यारे हो; तो वे निःसन्देह लड़ने, मरने और मारने के लिए तैयार हो जायेंगे। परन्तु यदि किसी शान्त आत्म-निरीक्षण के समय में वे अपनी ओर देखें; तो उन्हें लज्जा से मुँह छिपाना पड़े।

इससे पता लगता है कि इस संसार में धर्म की उचित मात्रा उपस्थित नहीं है। यदि धर्म का बिल्कुल अभाव होता; तो मानव समाज का बिल्कुल विध्वंस हो जाता। परन्तु ७० बड़े-बड़े राष्ट्र खड़े हैं। वे अपना-अपना अस्तित्व धारण कर रहे हैं। इससे पता लगता है कि धर्म का सर्वथा लोप भी नहीं हुआ हैं। किन्तु जब तक मनुष्य समाज इकट्ठा हो कर अपने शत्रुओं से नहीं लड़ता; तब तक धर्म का पूरा विकास हुआ है, यह भी नहीं कह सकते। जिस दिन सुख की धूप संसार के प्रत्येक कोने में प्रविष्ट होगी उस दिन धर्म का सूर्य अपने पूरे प्रताप पर पहुँचा है, ऐसा कह सकेंगे।

———

: ३ :

१. संसार के तीन प्रकार के शत्रु हैं

हमारे एक प्रकार के शत्रु आधिदैविक विपत्तियाँ हैं। जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प आदि। इनसे हम दो प्रकार से युद्ध कर सकते हैं—

(१) उत्तम आचरणों द्वारा, और,

(२) ईश्वराराधन से।

यहाँ उत्तम आचरणों से अभिप्राय इन विपत्तियों का यथा-शक्ति प्रतिकार करने से है। जैसे बाँध बाँधने द्वारा अतिवृष्टि का, नहरों द्वारा अनावृष्टि का, विशेष प्रकार के घर बनाकर भूकम्प का प्रतीकार करना—ये सब उत्तम आचरण हैं। आधिदैविक विपत्तियों के हमारे सब प्रतिकार पहिले उपाय के बिना अधूरे हैं, यह हमें कभी नहीं भुलाना चाहिये।

मानव-जाति के दूसरे शत्रु आधिभौतिक हैं। सर्प, बिच्छू, मच्छर, टिड्डी आदि प्राणियों तथा डाका, युद्ध आदि परस्पर के कलह से जो कष्ट हमें पहुंचते हैं; वे हमारे आधिभौतिक शत्रु हैं। इनका भी उपाय मानव-जाति की सम्मिलित शक्ति से इनका प्रतिकार करना ही है। वह प्रतिकार दो प्रकार का है—

(१) इन विध्वंसक शक्तियों को यथा-सम्भव उपकारी बनाना, और,

(२) यदि ऐसा न हो सके तो इनका विध्वंस कर डालना।

हमारे तीसरे शत्रु आध्यात्मिक हैं। आधिदैविक तथा आधिभौतिक दोनों प्रकार के दुःख अन्ततोगत्वा हमारे आध्यात्मिक शत्रुओं के ही खेल हैं। इसलिये इस ग्रन्थ में इसी विषय पर विचार होगा, कि इनसे युद्ध करने के लिये मानव राष्ट्र का संगठन किस प्रकार किया जाय। इससे पहले कि हम इन शत्रुओं से

लड़ने के लिये मानव राष्ट्र को संगठित करने का विचार करें, यह आवश्यक है, कि हम यह जानें कि यह आध्यात्मिक शत्रु कौन से हैं और किस प्रकार आक्रमण करते हैं।

२. संसार के पाँच आध्यात्मिक शत्रु

संसार के पांच आध्यात्मिक शत्रु हैं—

(क) अज्ञान
(ख) स्वार्थ
(ग) विक्षोभ
(घ) आलस्य
(ङ) अभाव

इनमें से प्रत्येक को एक-एक करके लेता हूं—

(क) अज्ञान

भगवान् वेदव्यास ने गीता में कहा है—"नहि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते।" अर्थात्, "ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु संसार में दूसरी नहीं है।" इससे स्पष्ट है कि अज्ञान के समान अपवित्र वस्तु भी दूसरी नहीं है। मैं अज्ञान को सबसे बड़ा शत्रु इसलिए कहता हूं, कि यह संसार के हितैषियों के हाथ से भी संसार का अहित करवा डालता है। जो लोग स्वभाव से दुष्ट हैं, जिन्हें पर-पीड़ा में निष्कारण आनन्द आता है, अथवा जो स्वार्थवश दूसरों के हित का नाश करते हैं, उनके हाथों संसार का अनिष्ट होना तो बिल्कुल स्वाभाविक ही है। किन्तु अज्ञान से तो हित चाहने वाले भी, अपनी समझ में हित करते हैं ऐसा समझते हुए भी, अहित कर बैठते हैं। अथवा समस्या उपस्थित होने पर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर विवश हो बैठे रहते हैं। जिन मनुष्यों ने सत्य का प्रकाश करने वाले विज्ञानवेत्ताओं को धमकाया, सताया और जीते-जी जला तक दिया, वे अपनी समझ में संसार का और स्वयं विज्ञानवेत्ताओं का—दोनों का—हित ही साध रहे थे। जब तक रेलगाड़ी तथा व्योमयान का आविष्कार न हुआ था, मनुष्य दूर देशस्थित मनुष्यों का हित चाहते हुए भी विवश थे। इस सारे दुःख का कारण था अज्ञान।

मनुष्य को केवल विचारों के प्रकाश मात्र के लिये दण्ड नहीं देना चाहिए। क्योंकि न जाने जिन विचारों को हम आज सर्वथा सत्य समझते हैं, कल उनमें

कुछ परिवर्तन हो जाय। विचार स्वातन्त्र्य की यह भावना कोई गहरा सत्य नहीं है। किन्तु इतने से, सत्य के यथार्थ ज्ञान के न होने से, कितने पूजा के योग्य महापुरुषों का बलिदान किया गया, जब इस पर विचार करते हैं तो आश्चर्य होता है। डेगची से ढक्कन उछलते किसने नहीं देखा ? किन्तु इतनी-सी बात के पूर्ण परिणाम क्या हैं, इसी बात के ज्ञान ने मानव-जाति के इतिहास में कैसा विशाल परिवर्तन कर डाला है ? जब यह विचारते हैं तो यह कहना पड़ता है, कि तिनके की ओट पहाड़ छिपा पड़ा था। इसीलिए चरक महाराज के स्वर में स्वर मिला कर कहना पड़ता है कि "प्रज्ञापराधो मूलं सर्वरोगाणाम्" अर्थात्, "समझ का दोष सब रोगों की जड़ है।"

इस समय मानव जाति के संगठन के सम्बन्ध में जो अज्ञान फैला हुआ है, आज तक साधारण सी सामाजिक उन्नति की बातों को लोक व्यवहार तक पहुँचाने में जितने श्रम का व्यय हुआ है, और, जितना अभी तक शेष है, उसे देख कर तो और भी आश्चर्य होता है। जो साधारण सी भूलें हम एक छोटे से परिवार के सम्बन्ध में होना सहन नहीं कर सकते; वे ही सारे मानव समाज को दुःख दे रही हैं; यह देख कर किसे आश्चर्य न होगा ? सच तो यह है; कि इस ग्रन्थ में मानव समाज के कायाकल्प के लिए जो उपाय मैं लिखने लगा हूं, वह इतने सरल और लोक विदित हैं कि उन्हें लिखते समय लज्जा अनुभव होती है। किन्तु जब यह देखता हूँ कि इन साधारण से मनोवैज्ञानिक तथ्यों के ठीक प्रयोग न होने से संसार में कितना दुःख बढ़ रहा है, तो प्रेम, लज्जा और संकोच पर विजय पा ही लेता है।

(ख) स्वार्थ

संसार का दूसरा शत्रु स्वार्थ अथवा तृष्णा है। यों तो महात्माओं को छोड़ कर साधारण मनुष्य मात्र स्वार्थ और प्रेम के मेल का परिणाम है। किन्तु कई मनुष्यों में यह स्वार्थ असाधारण मात्रा में पाया जाता है। भर्तृहरि जी ने मानव समाज के बड़े सुन्दर विभाग किये हैं। वे लिखते हैं—

एके ते पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं विनिघ्नन्ति ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकम् परहितं ते के न जानीमहे ॥

अर्थात्, "इस संसार में चार प्रकार के मनुष्य हैं—

"(१) वे महात्मा लोग जो अपने स्वार्थ का त्याग करके दूसरों का हित करते हैं।"

"(२) वे लोग जो यदि उनके स्वार्थ को हानि न पहुँचती हो; तो यथाशक्ति परोपकार करते हैं। संसार में सब से अधिक संख्या इन्हीं लोगों की है।"

"(३) वे लोग जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के स्वार्थ का नाश करते हैं।

"(४) वे लोग जो ठीक उसी प्रकार निष्काम भाव से दूसरों की हानि करते हैं; जिस प्रकार निष्काम भाव से महात्मा लोग दूसरों का हित करते हैं। भर्तृहरि जी कहते हैं कि इनका क्या नाम धरूं, सो समझ नहीं आता।"

सो स्वार्थ मनुष्य को राक्षस बना देता है। यह काम, लोभ, मोह और अभिमान के रूप में प्रकट होता है जिनमें से काम और लोभ मुख्य हैं।

(ग) विक्रोश

मनुष्य जाति का तीसरा शत्रु विक्रोश है। यह वह दुर्गुण है जिसके कारण वे मनुष्य उत्पन्न होते हैं; जिन्हें भर्तृहरि जी ने चौथी श्रेणी में रखा है। कई मनुष्यों में दूसरों के दुःख में आनन्द लेने की स्वाभाविक दुष्प्रवृत्ति होती है, वह काम, क्रोध, लोभ आदि किसी भी कारण से नहीं, किन्तु निष्कारण, दूसरों को पीड़ा देते हैं। उनके हृदय में जो स्वाभाविक विध्वंस-कारिणी प्रवृत्ति होती है; उसे हमने अनुक्रोश के उलटे विक्रोश का नाम दिया है।

वस्तुतः देखा जाय तो स्वार्थ और विक्रोश का मूल भी अज्ञान है। यदि इन मनुष्यों को अपने कर्मों के फल का पूर्ण रूपेण ज्ञान हो जाय; तो ये ऐसा कभी न करें। पूर्ण ज्ञान से हमारा तात्पर्य है; कि उन्हें साक्षात्कार हो जाय, क्योंकि उपदेश-मात्र से ज्ञान तो सबको मिल ही जाता है।

(घ) आलस्य

मानव समाज का चौथा शत्रु आलस्य है। इसे हमने स्वार्थ तथा विक्रोश से अलग इसलिए रखा है; क्योंकि यह बहुधा धर्मात्मा मनुष्यों में भी पाया जाता है। यह वही वस्तु है जिसे गीता में—

‡तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।। गीता १४।६

के नाम से याद किया है । बहुत-से मनुष्य ऐसे पाए जाते हैं; जो संचित धन में से सहस्रों दान करते हैं; परन्तु स्वयं कुछ कार्य नहीं करते । उनमें पराए दुःख में समवेदना पाई जाती है । वे दान भी करते हैं इसलिए उन्हें स्वार्थी कैसे कहें ? वे किसी को दुःख भी जहाँ तक बन पड़ता है, नहीं देते । परन्तु स्वयं करते कुछ नहीं । इनका दोष आलस्य है । संसार में किसी को दुःख "न देना" इतने मात्र से मानव-जाति का कल्याण नहीं हो सकता । प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ "देना" भी चाहिए । किन्तु भारतवर्ष में तो बहुत से धार्मिक सम्प्रदाय तक ऐसे हैं; जो दुःख न देना मात्र में धर्म की इतिश्री समझते हैं । उनका कहना है कि—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम ।
दास मलूका कह गए सबके दाता राम ।।

ऐसे मनुष्य सचमुच अजगर की तरह चुपचाप पड़े रहते हैं । अजगर तो किसी को दुःख भी देता है; परन्तु वे किसी को दुःख नहीं देते । किन्तु ऐसे मनुष्यों से भी मानव समाज का हित नहीं हो सकता । इसलिए हमने आलस्य को मानव समाज का चौथा शत्रु माना है ।

वेद में इस पुरुषार्थ की क्रिया को सवन (extraction) के नाम से पुकारा गया है । अर्थात्, हर एक मनुष्य का धर्म है कि वह किसी-न-किसी पदार्थ में से सार को खींच निकाले । किसान बीज को साधन बनाकर धरती में से अन्न सवन करता है । बढ़ई अपने यन्त्रों से लकड़ी से उपकरणों का सवन करता है । रसायन-शास्त्र का विद्वान् पदार्थों में से उनके परस्पर सम्बन्ध की विद्या के तत्त्वों का सवन करता है । और फिर वे सब इन सवनों के परिणाम सोमों को भगवान् की भेंट करते हैं । जो सवन नहीं करते, वे प्रभु के प्यारे नहीं हैं । वेद में कहा है—"यः सुन्वतः सखा तस्मा इन्द्राय गायत"

---

‡अज्ञान से तम उत्पन्न होता है; जो सब प्राणि मात्र को मूढ़ बना देता है । यह तमोगुण प्राणियों को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के बन्धनों से बाँधता है ।

(ऋ० १।४।१०) अर्थात् "जो सवन करने वालों का सखा है, उस इन्द्र के (परमात्मा वा राजा के) गीत गाओ"

इसी प्रकार ऋग्वेद दशम मण्डल के सूक्त में लिखा है—

श्रमस्य दायां विभजन्त्येभ्यः। अर्थात्, मनुष्य समाज के नेता, मनुष्यों को उनके श्रम का फल बाँटते हैं।

सो आलस्य सवन का उलटा है। यह भी मानव-जाति का महा-शत्रु है।

(ङ) अभाव

मानव-जाति का पाँचवाँ शत्रु अभाव है। वस्तुतः, सोचें तो इसका भी मूल अज्ञान है। किन्तु इसको हमने अन्य शत्रुओं से पृथक् इसलिए रखा है, क्योंकि यह उन मनुष्यों से भी पाप करवाता है, जो स्वभाव से दुष्ट अथवा आलसी नहीं हैं। उदाहरण के लिये, किसी देश में दुर्भिक्ष आ पड़े, तो वहाँ अच्छे पुरुषों को भी अपना-आप संभालना कठिन हो जाता है। किसी ने क्या अच्छा कहा है :—

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।

अर्थात्, "भूखा आदमी कौन-सा पाप नहीं कर डालता ? भूखे लोग निर्दयी हुआ करते हैं।"

यह अभाव दो कारणों से उत्पन्न होता है—

(१) उपभोग्य वस्तुओं के ह्रास से, और,

(२) उपभोक्ताओं की अति वृद्धि से।

ज्ञानी मनुष्य इन दोनों विपत्तियों का उपाय पहिले से सोचकर इनका प्रतिकार करते हैं। इसीलिए हम कहते हैं, कि मानव-जाति का सबसे बड़ा शत्रु अज्ञान है।

: ४ :

१. संविभाजन

इस ग्रन्थ में हमारा मुख्य उद्देश्य मानव-समाज के संगठन-सम्बन्धी अज्ञान को दूर करना है। यदि इस धरती पर प्राणियों की संख्या इतनी बढ़ जाय, कि उनके लिए जीवनोपयोगी पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न न हो सकते हों, तो समस्या दूसरी होगी, और उसके उपायों पर हम किसी अगले अध्याय में विचार करेंगे। किन्तु अभी तक तो इस धरती की यह अवस्था नहीं है। फिर भी, इस संसार में सैंकड़ों मनुष्य दुर्भिक्ष, व्याधि, परिच्छदाभाव तथा परस्पर घात से पीड़ित हो रहे हैं। एक ओर तो लाखों मनुष्य दाने-दाने को तरस रहे हैं, दूसरी ओर लाखों मन अन्न इस लिए कोयले के स्थान में जलाया जा रहा है, कि कहीं अन्न सस्ता न हो जाय। इस से स्पष्ट है; कि मानव-समाज इस समय अर्वाति अथवा अभाव (Scarcity) से पीड़ित नहीं, किन्तु मानव-समाज के वर्तमान दु:खों का कारण विद्यमान पदार्थों के ठीक विभाग का न जानना है। इसी अज्ञान को दूर करने के लिए वेद ने, शास्त्रकारों ने, तथा संसार के अन्य विद्वानों ने, जो कहा है उसका यथामति निष्कर्ष इस ग्रन्थ में देते हैं।

इस से पहले; कि हम पदार्थों के ठीक बँटवारे के विषय में कुछ कहें, यह आवश्यक है कि हम यह जान लें, कि बँटवारा किन पदार्थों का करना है। इन बँटवारे के पदार्थों को हम दो विभागों में बांटते हैं—

(१) आलम्बन पदार्थ, और,

(२) अनुबन्ध पदार्थ।

"आलम्बन पदार्थ" वे पदार्थ हैं जिनके बिना हमारी जीवन-यात्रा असम्भव है। यह पदार्थ संख्या में चार हैं—

(१) ज्ञान,
(२) आहार,
(३) परिच्छद (वस्त्र तथा निवास-स्थान), और,
(४) चिकित्सा।

किसी राष्ट्र में प्रत्येक मनुष्य को, जो जान-बूझकर श्रम करने से इन्कार न करे, ये चार पदार्थ अवश्य मिलने चाहिए, और जो श्रम करने से इन्कार करे उसे भी श्रम करने के लिए बाधित करना चाहिए, न कि इन पदार्थों से उसे वंचित किया जाए।

"अनुबन्ध पदार्थ" वे हैं, जिन के बिना हमारा जीवन-निर्वाह हो सकता है। जैसे उच्चकोटि का-संगीत, उच्च चित्र-कला, अति सुस्वादु भोजन आदि। यह पदार्थ भी यथा-सम्भव सब को मिल सकें, तो अच्छा है। परन्तु यदि इन में किसी कारणवश, समाज के हित के लिए, कुछ प्रतिबन्धों की आवश्यकता हो, तो लगाए जा सकते हैं। यदि यह सब को प्राप्त न हों, तब भी समाज की व्यवस्था चल सकती है।

अब हमारे पास एक कसौटी आ गई है, जिस से हम किसी समाज व्यवस्था के भले-बुरे होने का नाप कर सकते हैं। जिस समाज-व्यवस्था में आलम्बन पदार्थों से कोई श्रमेच्छु वंचित न रहे, जिस में अनुबन्ध पदार्थ भी यथा-सम्भव सब तक पहुंचाये जा सकते हों, वह व्यवस्था समाज के लिए आदर्श व्यवस्था है।

वेद में परमात्मा के अनेक गुणों में एक गुण यह भी कहा है—

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम् ॥ यजुः ३०।४॥

अर्थात्, 'हम, मनुष्यों की ठीक परख कर सकने वाले, तथा हरेक मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ, विविध प्रकार का ज्ञानवर्धक धन यथायोग्य सब में बांटने हारे, सविता (परमात्मा अथवा उसके गुणों को धारण करने वाले राजा) को पुकारते हैं।"

(२) अधिकार

किसी पदार्थ को उपयोग में लाने के लिए समाज जिस व्यक्ति को जिस अंश तक स्वतन्त्रता देता है उस अंश तक उसका उस पदार्थ पर अधिकार कहा जाता है।

अब इस प्रश्न का उत्तर जानना हमारे लिए सरल हो गया, कि संसार में वस्तुओं पर किसी मनुष्य का कहाँ तक अधिकार है। जिन अधिकारों के बँटवारे का परिणाम, पदार्थों के उस बँटवारे के अधिक से अधिक समीप पहुँचता हो, जिस का हम पहले वर्णन कर आए हैं, अर्थात् जिस अधिकार विभाग से सब को आलम्बन पदार्थ (राधसः, यजुः ३०।४) अपेक्षित मात्रा में मिल जावें, तथा, अनुबन्ध पदार्थ भी अधिक से अधिक और इस प्रकार से मिलें, कि उससे ज्ञान की वृद्धि और अविद्या का नाश हो (चिति संज्ञाने, चित्रस्य, यजुः ३०।४) तो वह अधिकारों का बँटवारा सबसे श्रेष्ठ है।

इस समय लाखों मनुष्यों का भूखे मरना यह बताता है, कि आज कल का बँटवारा ठीक नहीं है। वेद ने कहा है—"न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुः।" (ऋ० १०।११।७१) अर्थात्, "देवों ने यह नियम बनाया है कि भूखों कोई न मरे।" लाखों मनुष्य आज ज्ञानहीन हैं। उधर वेद की आज्ञा है कि "कल्याणी वाणी" (शिक्षा) सब को मिलनी चाहिए (यजुः ३७।२)। इससे यह पता लगा, कि संसार में पदार्थों का बँटवारा ठीक नहीं और चूंकि पदार्थों का यह बँटवारा ठीक नहीं है, इसलिए स्पष्ट है, कि अधिकारों का बँटवारा भी ठीक नहीं है।

अब हमें देखना है कि वह अधिकारों का बँटवारा किस आधार पर हो—तो पदार्थों का बँटवारा ठीक हो सकता है। इस विषय में इस समय तक दो पक्ष प्रचलित हैं—

(क) जन्माधिकारवाद, और,

(ख) श्रमाधिकार वाद।

(क) जन्माधिकारवाद

जन्माधिकारवादियों का कहना है, कि परमात्मा ने जिस मनुष्य को जिस कुल में जन्म दे दिया है, उसे उस कुल में जन्म लेने के कारण अपने पिता तथा अन्य पूर्वजों की सम्पत्ति का उपभोग करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह सिद्धान्त केवल भारतवर्ष में प्रचलित हो, यही बात नहीं है; किन्तु समस्त संसार में (रूस को छोड़ कर) यही सिद्धान्त प्रचलित है। यह ठीक है, कि भारतवासियों ने इस सिद्धान्त को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। यहां राजा से लेकर भंगी तक सभी के अधिकार तथा कर्तव्य जन्मसिद्ध हैं।

किन्तु यूरोप, अमेरिका आदि देशों में भी सम्पत्ति पर उत्तराधिकार केवल जन्म के आधार पर ही माना जाता है। राकफेलर के पुत्र को अतुल धन-सम्पत्ति भोगने का अधिकार है, किसी योग्यता के कारण नहीं; केवल मात्र इसलिए, कि वह राकफेलर का पुत्र है।

इस जन्माधिकारवाद के विषय में क्या कहा जाय? वर्तमान युग की सभी विपत्तियों का यही मूल कारण है। उन्नति के दो मूलमंत्र हैं, एक भय, तथा दूसरा उत्साह। इन दोनों का गला घोंटने का इससे बढ़कर आदर्श उपाय दूसरा नहीं सोचा जा सकता। विशेषकर भय का तो इसमें लोप ही हो जाता है। जब राकफेलर के पुत्र को भय न हो; कि किसी अवस्था में उसकी सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है, और मंगत चमार को यह उत्साह न हो; कि वह भी समाज में कभी बड़ी पदवी पा सकता है, तो उन्नति कैसे हो? पाश्चात्य देशों में, जहाँ धन से ही उन्नति नापी जाती है, निर्धन को धनी बनने का तो किसी अंश तक अवसर है, और इससे बहुत से उद्योगी तथा बहुत से धूर्त व्यक्ति लाभ भी उठाते हैं किन्तु भय का वहाँ भी अभाव है। धनपति के पुत्र को किसी अवस्था में भी पिता की सम्पत्ति के अधिकार से वंचित होने का भय नहीं है। इसके जो दुष्परिणाम हैं वह इतने स्पष्ट हैं कि उनका विस्तार से वर्णन करना अनावश्यक है। आज श्रमजीवी समुदाय की ओर से जो भयंकर क्रान्ति का झण्डा खड़ा किया गया है, उसका मूलकारण यही अत्याचार है। अपने दीर्घ अध्यवसाय, निरन्तर जागरूकता, दृढ़ संगठन शक्ति, और श्रमजीवियों के साथ मधुर तथा न्यायपूर्ण व्यवहार के बल पर, जो श्रमजीवी पूँजीपति के पद पर पहुंचे हैं, तथा उस समुपार्जित सम्पत्ति में से करोड़ों रुपया जिन्होंने दान द्वारा कला और विज्ञान की उन्नति तथा अन्य राष्ट्रीय उपकार के कामों में लगाया है, उनकी सम्पत्ति, सिवाय कुछ कट्टरपन्थी साम्यवादियों के अथवा कुछ ईर्ष्यालु मनुष्यों के अन्य किसी को नहीं अखरती। अतः कट्टरपन्थी तो सत्य को मानने से इन्कार करते ही हैं, चाहे वे मुसलमान हों, ईसाई हों, सनातनधर्मी हों, आर्यसमाजी हों अथवा साम्यवादी हों। किन्तु जो मनुष्य सत्य को रूढ़ियों से ऊपर समझते हैं वे साम्यवाद की रूढ़ियों से भी दबने वाले नहीं हैं। अतएव यह मानना उचित ही है, कि जिन्होंने अपनी सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक सदुपयोग किया है, उनकी सम्पत्ति

किसी को नहीं अखरती। जो बात सत्यासत्य विवेचक सहृदय लोगों को अखरती हैं वह यह है: कि वह पूंजी बिना परीक्षा के उस पूंजीपति के पुत्र को क्यों मिले, और दुरुपयोग-पर-दुरुपयोग करने पर भी उसके हाथों में क्यों पड़ी रहे ?

इसका उत्तर बहुत से लोग विधाता का विधान, कर्मफल, भाग्य अथवा ईश्वराज्ञा के नाम से देते हैं। ईश्वर के सबसे बड़े शत्रु उसके यह भाग्यवादी भक्त हैं। वे भूल जाते हैं कि जिस भगवान् ने हमें विशेष अवस्थाओं में जन्म दिया है उसी ने हमें उन्हें अपने अनुकूल करने की शक्ति और आदेश भी तो दिया है। हाथ, पैर, आँख, नाक, कान और सबसे बढ़कर सिर यह सब मूल्यवान् सम्पत्ति भगवान् ने भाग्य के साथ लड़ कर उसे जीतने के ही लिए दी हैं। भगवान्ने कहा—

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि आप्नुहि श्रेयांसम्। अति-समय् क्राम ॥ अथर्व० २। ११। १।

अर्थात्, "तू शस्त्रों को काटने वाला शस्त्र है, तू दूषणों को दूषित कर देने वाली महाशक्ति है, तू चिन्ताओं का पहिले से चिन्तन करने वाला अनागत विधाता है। उठ ! जो तेरे साथ की पंक्ति में हैं उन्हें पीछे छोड़ और जो अगली पंक्ति में हैं, उनमें जा मिल।"

वह भगवान् ही तो कहता है—

कृतम्मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

अथर्व० ७। ५०। ८

अर्थात्, हे मनुष्य सदा याद रख, पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथ में रहता है, और विजय बाएं हाथ में रहती है।"

भगवान् का हाथ, पैर, सिर, आदि शक्तियां हमें देना ही इस बात का प्रमाण है कि हमारा काम भाग्य से युद्ध करना है।

अतएव, धनपतियों के पुत्र भी धन का सदुपयोग करें। हमें इसका पूरा प्रबन्ध करना चाहिए। यह प्रबन्ध केवल तीन अवस्थाओं में हो सकता है—

(१) उन्हें धन के सदुपयोग की उत्तम-से-उत्तम शिक्षा दी जाय। केवल वाणी ही द्वारा नहीं, आचरण द्वारा भी।

(२) उन्हें यह भय हो; कि यदि वे सदुपयोग करना न सीखेंगे, तो उन की सम्पत्ति छीन ली जायगी।

(३) यदि दुरुपयोग करें, तो छीन ली जाय, जिससे यह राज नियम केवल स्मृति ग्रन्थ की धारा मात्र न रह जाय।

जब तक ऐसा न होगा तब तक पूँजीपति, जिसमें पूजा की पूँजी पाने वाले भारतीय ब्राह्मणमात्र तथा राज्याधिकार की पूँजी पाने वाले राजा तथा सरदार लोग भी सम्मिलित हैं, संसार पर मनमाने अत्याचार करते ही रहेंगे।

इसलिए भय तथा उत्साह दोनों का बाधक होने के कारण जन्माधिकार वाद धर्म-विरुद्ध है। उसके द्वारा संसार सुखी कभी नहीं हो सकता।

(ख) श्रमाधिकारवाद

किसी पदार्थ पर किसी का अधिकार क्यों है इस विषय में जन्माधिकार वाद पर विचार हो गया। अब हम दूसरे वाद श्रमाधिकारवाद पर आते हैं। श्रमाधिकारवादियों का कहना है, कि जिस किसी ने किसी पदार्थ को उत्पन्न करने में श्रम किया है, उसका उस पर अधिकार है। किन्तु यह वाद भी युक्ति की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता।

हम प्रतिदिन देखते हैं, कि जीवन भर की कमाई को एक मनुष्य चार विद्वानों की एक सभा को दान कर जाता है, कि इससे एक पुस्तकालय चलावें। इसकी सब प्रशंसा करते हैं, न केवल कोई इसे बुरा नहीं मानता, उलटा ऐसा करने वालों की कीर्त्ति का चारों ओर विस्तार होता है। यह स्पष्ट है कि उन चारों विद्वानों ने इस ५० सहस्र के उत्पन्न करने में कुछ भी श्रम नहीं किया। दूसरी ओर जिसने श्रम करके यह ५० सहस्र रुपये इकट्ठे किए थे, वह जब विद्वत्समिति को यह रुपये दान करता है, तो स्पष्ट इस बात की घोषणा करता है कि मेरी अपेक्षा इस धन पर इस विद्वत्समिति का अधिकार होना अच्छा है और प्रजा भी अपनी प्रशंसा द्वारा इस बात का अनुमोदन करती है।

इसके दूसरी ओर, यदि वही मनुष्य अपने इस ५० सहस्र रुपये के नोट लेकर अपने एक मित्र को चाय पिलाने के समय उन नोटों को जलाना आरम्भ करे; तो हर एक मनुष्य इस बात का विरोध करेगा; और चाहेगा, कि यह नोट उससे छीन लिए जावें। यदि वह मनुष्य झुंझला कर यह कहे कि मेरी कमाई है, जैसे चाहूँ फूंकूं तो सब उसका विरोध ही करेंगे। उसका यह कहना ठीक ऐसा ही है जैसे कोई आत्म-हत्या करने वाला कहे मेरा शरीर

है जैसे चाहूं फूंकूं। यह ठीक है, कि आत्म-हत्या के विरुद्ध राजनियम बन चुका है। किन्तु सम्पत्ति के नाश के विरुद्ध अभी राज-नियम नहीं बना, परंतु बनना चाहिए। इसका विरोध कोई भी सहृदय मनुष्य नहीं कर सकता। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का शरीर राष्ट्र की सम्पत्ति है उसी प्रकार सम्पत्ति भी वास्तव में राष्ट्र की है। उसे नाश करने का भी किसी को अधिकार नहीं। किन्तु यह अधिकार का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित ही तब होता है जब कोई सम्पत्ति का दुरुपयोग करता है। दूसरी ओर जब कोई अपनी श्रमोपार्जित सम्पत्ति को अपने से योग्यतर मनुष्य के हाथ में सौंपता है, तो सारी प्रजा उसका अभिनन्दन करती है।

३. सदुपयोग

इसलिए यही सिद्धान्त मानना ठीक है कि जो सम्पत्ति का सबसे अधिक सदुपयोग करे, उसी का सबसे अधिक अधिकार है, और जो दुरुपयोग करे उसका अधिकार छीन लेना चाहिए इस सिद्धांत का नाम "सदुपयोगवाद" है।

४. साम्यवाद

इसी प्रसङ्ग में लगे हाथों साम्यवाद के प्रश्न पर भी विचार कर लेना अयुक्त न होगा।

सदुपयोग के आधार पर ही साम्य का प्रश्न भी अवलम्बित है। यदि संसार के सब मनुष्यों में अपने-अपने अधिकारों का सदुपयोग करने की क्षमता एक-सी हो तो सबके अधिकार भी समान हैं। परन्तु हम स्पष्ट देखते हैं, कि ऐसा नहीं है। न सब मनुष्यों की भूख एक सी है, न श्रमशक्ति एक सी है, न योग्यता एक सी है। ये चीजें न मात्रा में एक सी हैं, न एक प्रकार की हैं।

जिस प्रकार हमारी नाक के लिए एक पेड़े से लेकर एक थाल तक सब व्यर्थ है कान के लिए सुगन्ध के एक बिन्दु से इत्रदान तक सब व्यर्थ है, रसना के लिए वीणा के एक स्वर से लेकर सम्पूर्ण राग रागिणी तक सब व्यर्थ हैं, ऐसे ही बहुत से मनुष्यों के लिए सांसारिक वैभव व्यर्थ हैं, बहुतों के लिए कला के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चमत्कार व्यर्थ हैं। वेद के शब्दों में—

समौ चिद्धस्तौ न समं विवष्टिः,
सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि,
ज्ञानी चित् सन्तौ न समं पृणीतः ॥ऋग्० १०।११७।९

अर्थात्, "दोनों हाथ एक से दीखते हैं, पर इनकी क्रिया शक्ति एक समान नहीं है, एक मां से पैदा होने वाली एक-सी दो गौवें एक समान दूध नहीं देतीं, दो जोड़वां भाइयों की शक्तियाँ भी एक समान नहीं होतीं, एक ही वंश के दो व्यक्ति एक समान दान नहीं करते हैं।"

इस अवस्था में सबको एक समान अधिकार देना युक्ति-संगत नहीं है। ऐसा न कभी हुआ है, और न होगा ही। जो लोग अपने आपको अतिक्रान्त साम्यवादी कहते हैं, वे भी जब कोई सभा करते हैं, तो उसमें एक सभापति अवश्य होता है, और उनकी सेना में भी सेनापति अवश्य होता है। सभापति और सेनापति की आज्ञा मानना सब के लिए आवश्यक होता है, और न मानने वाले को यथोचित दण्ड भी दिया जाता है। इससे स्पष्ट है, कि अधिकारों में साम्य कभी नहीं हो सकता। हां, योग्यता के बदले जन्मसिद्ध अधिकार अथवा श्रमसिद्ध अधिकार मानना अवश्य हानिकारक है।

इसका यह अर्थ नहीं कि जन्म अथवा श्रम का योग्यता के निर्णय में कोई स्थान नहीं। किन्तु इसका अर्थ यही है; कि जन्म अथवा श्रम भी सदुपयोग की सम्भावना में सहायक हो सकते हैं। जिस मनुष्य ने आयुर्वेद की विद्या का अभ्यास किया है; उसके यहां यदि कई पीढ़ियों से यही कार्य चला आता हो तो उसकी योग्यता के बढ़ने की सम्भावना निस्सन्देह अधिक है। जिस मनुष्य ने कोई पदार्थ श्रम द्वारा उत्पन्न किया है, उसके द्वारा दुरुपयोग की सम्भावना बहुत कम है, यह ठीक है किन्तु अधिकार का निर्णायक सदुपयोग ही है, इसमें अब कुछ सन्देह नहीं रहा। इससे स्पष्ट है कि बड़े-छोटे का भेद असह्य नहीं, किन्तु निराधार भेद असह्य है।

सदुपयोग की सबसे अधिक सम्भावना ज्ञान और आत्मसंयम के संयोग में है।

एक मनुष्य एक रोगी की सेवा कर रहा है। मान लीजिए कि माता अपने रोगग्रस्त बच्चे की सेवा कर रही है। वह निरन्तर जाग सकती है। जितना स्वार्थत्याग वह बच्चे के लिए कर सकती है, कौन करेगा ? किन्तु वह नहीं जानती कि इस समय बच्चे के लिए क्या करना चाहिए। बच्चे के पेट में दर्द है। परन्तु वह दीवार पर देवी का चित्र बना कर उसके सामने दिया जला रही है, कि इससे बच्चे का कष्ट दूर हो जाय। बच्चे का रोग बढ़ता जाता है। बच्चे की पढ़ी-लिखी चाची उसे औषध देना चाहती है। माता नहीं

देने देती। यहाँ माता अपने अधिकार का जो दुरुपयोग कर रही है, उसका कारण सदिच्छा का अभाव नहीं है, किन्तु अज्ञान है। इस अज्ञान के वशीभूत होकर मनुष्य-जाति ने न मालूम कितनी निरपराध स्त्रियों को चुड़ैल कहकर जीते-जी अग्नि के अर्पण किया है। अत: अधिकार के दुरुपयोग का सबसे बड़ा कारण अज्ञान और सदुपयोग का सबसे बड़ा कारण सम्यग्ज्ञान है। यह स्पष्ट हो गया।

सदुपयोग का दूसरा आधार आत्म-संयम है। एक मनुष्य को वैद्य ने खटाई खाने से रोका है। वह पढ़ा-लिखा, साक्षर मनुष्य भली प्रकार जानता है, कि इस समय खटाई खाना मेरे लिए विष के समान है, परन्तु वह जिह्वा के वशीभूत होकर खटाई खा लेता है, और रोग दूना बढ़ कर उसके प्राण ले लेता है। यहाँ ज्ञान का अभाव नहीं है, किन्तु आत्म-संयम का अभाव है। बस, यह ज्ञान और आत्म-संयम का मेल सदुपयोग का जन्मदाता है।

इसी मौलिक सिद्धान्त को आधार मानकर वैदिक-धर्म में वर्णव्यवस्था की रचना हुई है।

५. वैविध्य

इस सिद्धान्त के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की रचना किस प्रकार हुई है, यह दिखाने से पहिले हम एक और बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। वह है वैविध्य। सब मनुष्यों में सब बातें एक समान नहीं हैं। फिर, जो बातें प्राणि-मात्र में समान भाव से पाई जाती हैं उनकी भी मात्रा समान नहीं है। कवि ने कहा है—

> आहारनिद्राभयमैथुनञ्च,
> सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम ॥

अर्थात्, "भोजन, निद्रा, भय और नर-मादा का सहवास — ये पशु और मनुष्यों में समान हैं।"

प्राणि-मात्र में जो सामान्य बातें पाई जाती हैं उनका यह अच्छा परि-गणन है। किन्तु आहार (भोजन) तथा निद्रा आदि भी सब में समान मात्रा में नहीं पाये जाते। जहां प्रकार भेद नहीं वहाँ मात्रा-भेद अवश्य है। इस अवस्था में, मानव-समाज के संगठन के लिए जो भी संविधान तैयार किया जाए उसमें इस वैविध्य का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। गणित शास्त्र में यह बात स्वयंसिद्ध मानी गई है, कि विषम में सम जोड़ने से विषम उत्पन्न

होता है। जैसे—७, ९, ११ विषम हैं। इनमें २, २ जोड़ने से ७+२=९; ९+२=११; ११+२=१३; हुए। ये भी विषम हैं। यदि विषम को सम बनाना हो तो उनमें विषम जोड़ना पड़ेगा। जैसे—७+९=१६; ९+७=१६; ११+५=१६। आश्चर्य है कि समाज शास्त्र के पंडित सामाजिक संगठन के समय इस स्वयंसिद्धि को भूल जाते हैं।

हम एक साधारण सा दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। यदि २० मनुष्यों को एक पंक्ति में बैठाकर पांच-पांच लड्डू बाँट दिये जावें, तो आपाततः, यह व्यवहार समानता उत्पन्न करेगा। किन्तु यदि हम थोड़ा गम्भीरतापूर्वक विचार करें, तो हमने समानता नहीं विषमता उत्पन्न कर दी। हम देखेंगे, कि थोड़ी देर के पश्चात् कई खाने वालों के पास दो या तीन लड्डू बच गए, और कई एक भूखे रह गए। किन्तु यदि हम सबकी भूख का ठीक पता लगा कर पाँच की भूख वाले को पाँच, सात की भूख वाले को सात, तथा तीन की भूख वाले को तीन लड्डू दे देते तो स्थूल दृष्टि से पक्षपात होता, परन्तु वास्तव में समानता उत्पन्न होती। जब सबको यथायोग्य, भूख के अनुसार लड्डू दिए गए तो बँटवारे में विषमता देखने में आती थी, परन्तु परिणाम में समानता हुई। यथा—

१. सब तृप्त हो गये।

२. किसी के पास कोई लड्डू नहीं बचा :

३. किसी के पास भूख नहीं बची।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है, कि बँटवारे में समानता परिणाम में विषमता उत्पन्न करती है। दूसरी ओर बँटवारे में विषमता परिणाम में समानता उत्पन्न करती है।

हाँ, एक तीसरा प्रकार भी है। जिसे तीन की भूख थी उसे एक लड्डू दिया जाय और जिसे एक की भूख थी उसे बीस लड्डू दे दिये जावें तो इस बँटवारे के परिणाम और भी भयंकर होंगे।

६. पूँजीवाद, साम्यवाद और वर्णव्यवस्था

बस, अब हम पूंजीवाद, साम्यवाद और वर्णव्यवस्था का भेद भली प्रकार समझ सकेंगे। इनमें भेद यह है—

(१) भूखों के लड्डू छीनकर भूख रहितों के पास लड्डुओं का ढेर लगा देना वर्तमान पूंजीवाद है।

(२) सबको समान लड्डू बांट देना साम्यवाद है।

(३) सबको भख के अनुसार लड्डू देना वर्ण-व्यवस्था है।

साम्यवाद अन्याय का विरोध करते समय ईर्ष्या को भी बीच में मिला देता है, और कहता है बड़ा-छोटा कोई नहीं, सब समान हैं। वर्णव्यवस्था इस बात को स्पष्टतया स्वीकार करती है, कि योग्यता और भूख में भेद होने के कारण अधिकारों में भेद होना आवश्यक है। किन्तु उसका आधार योग्यता ही होना चाहिए, जन्म नहीं।

७. वर्णव्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्त

अब इन दो सिद्धान्तों को—

(१) सदुपयोग से अधिकार की उत्पत्ति, और,

(२) योग्यता और आकांक्षा में भेद

को मिलाने से वर्णव्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि होती है। यह सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(क) कौशल;

(ख) शक्ति-प्रतिमान;

(ग) यथायोग्य दक्षिणा।

क. कौशल

हर एक मनुष्य सब प्रकार के कार्यों में कुशल नहीं हो सकता। विधाता ने हर एक मनुष्य को कोई-न-कोई समाज के लिए उपयोगी कार्य करने की शक्ति दी है। यदि यह सर्वज्ञ बनने का विफल प्रयास करने के बदले उस एक दिशा में अपनी शक्ति एकाग्र करे तो उसे जो सफलता हो सकती है, और उसके द्वारा उसके और समाज के सुख में जो वृद्धि हो सकती है, वह अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सामान्य विषयों का थोड़ा-बहुत सामान्य ज्ञान रखते हुए भी अपना एक विशेष दिशा में कौशल प्राप्त करने का यत्न अवश्य करना चाहिये।

भारतीय समाज शास्त्रकारों ने यह कार्य तीन भागों में बाँट दिए हैं—

(१) प्राकृत पदार्थों को, शारीरिक श्रम तथा बुद्धि-कौशल द्वारा, मनुष्य जीवन के लिए उपयोगी बना कर मानव-समाज की दरिद्रता दूर करना। इस दिशा में कौशल प्राप्त करने वाले वैश्य कहलाते हैं।

(२) काम, क्रोध, लोभादि मानव-स्वभाव सुलभ दुर्बलताओं के कारण होने वाले अन्याय को बलपूर्वक दूर करना तथा, सद्व्यवहार को प्रचलित करना। इस दिशा में कौशल प्राप्त करने वाले क्षत्रिय कहलाते हैं।

(३) मानव समाज के लिए हितकारी सब प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने में तथा अविद्या के नाश में जीवन लगाना। इस दिशा में कौशल प्राप्त करने वाले ब्राह्मण कहलाते हैं।

इन तीनों प्रकार के कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता अपेक्षित है। अतएव आहार, निद्रादि जिन बातों में सब लोग समान हैं उन में भी मात्रा भेद का विचार रखते हुए आवश्यकतानुसार आलम्बन पदार्थ सब को पहुँचाना, और, जिन अंशों में इन लोगों ने विविध मार्ग का ग्रहण किया है उन अंशों में उन्हें यथायोग्य अधिकार देना, इससे ही मानव समाज का कल्याण हो सकता है।

किन्तु सबसे पहिली बात जो अपेक्षित है, वह यही है, कि प्रत्येक मनुष्य, इन तीनों में से वह किस विशेष कार्य को सबसे भली प्रकार सम्पादन कर सकता है, इसका सूक्ष्म अन्वेषण स्वयं अथवा विशेषज्ञों की सहायता से करके, अपनी शाखा में अपनी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक कौशल प्राप्त करे।

यह कौशल (Specialisation) वर्णव्यवस्था का पहिला सिद्धांत है।

ख. शक्ति प्रतिमान

परन्तु इस प्रकार का कौशल प्राप्त करने वाले मनुष्यों में परस्पर व्यवहार के नियम बनाना भी आवश्यक है।

हमने जो तीन कार्य ऊपर कहे हैं उनमें से ज्ञान की खोज और अज्ञान का दूर करना सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है। अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाले तथा प्राकृत पदार्थों से सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले दोनों ही ज्ञान के बिना अन्धे हैं। ज्ञान इन दोनों को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु यह ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते। इस लिए ज्ञान तथा आत्म-संयम का मेल रखने वाले जितने व्यक्ति राष्ट्र इकट्ठे कर सकता है वे पहले इस वर्ग में जाने चाहिए। यदि किसी राष्ट्र में सबके सब व्यक्ति एक से प्रतिभाशाली तथा एक से संयमी हों तब तो वह बड़ा भाग्यशाली है। परन्तु जब तक वह दिन नहीं आता तब तक तो हमें बंटवारा करना ही पड़ेगा। जब बँटवारा करना ही है

तो मानव जाति के कल्याण के लिए हमें इस प्रकार की व्यवस्था अवश्य ही करनी चाहिए जिससे प्रेरित होकर मानव जाति के श्रेष्ठतम मनुष्य इस कार्य की ओर झुकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि मानव समाज इन्हें ज्ञान-वृद्धि के लिए सुविधा तथा राष्ट्र में आदर अधिक से अधिक मात्रा में दे। यह ठीक है कि आत्म-संयम के अभ्यास में आदर की इच्छा का जीतना भी एक आवश्यक अंग है, और, इसी लिए इस वर्ग की साधना में यश के लोभ से बचना भी एक आवश्यक अंग है। किन्तु सब समाज के श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ तथा प्रतिभाशाली-से-प्रतिभाशाली बालकों को इस कार्य की ओर जाने के लिए प्रेरित करने के निमित्त राष्ट्र इस वर्ग का सबसे अधिक मान करे। यह ठीक है, कि यह मान की भूख इस वर्ग को नहीं होनी चाहिए। परन्तु जो अपनी प्रतिष्ठा नहीं चाहते उनकी और भी अधिक प्रतिष्ठा करके राष्ट्र अपने हर एक व्यक्ति को इस गुण के धारण करने की प्रेरणा करता है। दूसरे, यद्यपि अभ्यास करते-करते मनुष्य इस प्रतिष्ठा के लोभ को भी जीत लेता है, किन्तु यह बात बालकपन से ही सबको सिद्ध नहीं होती। यदि राष्ट्र के सबसे अधिक प्रतिभाशाली बालक, आरम्भ में प्रतिष्ठा के लोभ से भी, इस वर्ग की ओर चले खिच आवें और पीछे से अपने नेताओं की संगति से वे प्रतिष्ठा के लोभ को भी जीत लें, तो भी समझना चाहिए कि राष्ट्र को यह सौदा मँहगा नहीं पड़ा।

परन्तु याद रखना चाहिए कि आत्म-संयम की भी सीमा है। जहाँ वर्गीकरण के न होने से कौशल उत्पन्न नहीं होता, तथा वर्ग के साथ यथोचित व्यवहार न होने से वह फलता-फूलता नहीं, वहाँ मर्यादा से अधिक शक्ति किसी भी वर्ग के हाथ में आ जाने से वह वर्ग पतित हुए बिना नहीं रह सकता। इसी लिए भारतीय समाज शास्त्रकारों ने किसी एक वर्ग के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति नहीं आने दी।

विद्या—व्यसनी वर्ग को उन्होंने गौरव दिया है। किन्तु धन सञ्चय, ऐश्वर्य-भोग तथा राज्य शासन का अधिकार उनसे छीन लिया है। अन्याय के साथ लड़ने में प्राणों की आहुति करने वालों के हाथ में शासन की बागडोर दी है। उन्हें प्रभुत्व दिया है, तो उन्हें आदर विद्या व्यसनियों से कम दिया है। और लक्ष्मी, सम्पत्ति के निर्माताओं से कम दी है। सम्पत्ति उत्पन्न करने वालों को ऐश्वर्य-भोग दिया है, तो उन्हें गौरव और प्रभुत्व नहीं दिया है।

यदि ऐसा न करें तो कोई एक वर्ग सम्पूर्ण शक्ति प्राप्त होने से दूसरों पर अत्याचार किए बिना न रहे।

यूरोप के लोगों ने इस विषय में सब प्रकार के परीक्षण किए हैं।

जिस समय यूरोप में पोप की सत्ता की धाक थी, उसे हम ब्राह्मण राज्य का युग कह सकते हैं। किन्तु प्रतिष्ठा, राज्य-शक्ति और धन, सब एक स्थान में इकट्ठा हो जाने के कारण अन्याय तथा अत्याचार हुए जिनके विरुद्ध लूथर की क्रांति हुई।

उसके पश्चात् यूरोप में फ्यूडल—सिस्टम अथवा सामन्त-राज्य का युग आया। इस युग को अन्धी क्षत्रिय-शक्ति का युग कहा जा सकता है। इस युग के अत्याचारों की समाप्ति फ्रांस की राज्य-क्रांति के साथ हुई।

उसके पश्चात् स्टीम एंजिन तथा विद्युत के प्रयोग के उदय के साथ वर्तमान पूंजीवाद का उदय हुआ। यह वैश्य साम्राज्य का युग है। दरबार में सबसे अधिक आदर है, तो उसका जो सब से अधिक आय कर (Income Tax) देता है। राज्य में अधिकार है, तो उसका जो धन के बल से सबसे अधिक मत (Votes) खरीद सकता है। सांसारिक भोग-विलास की सामग्री का तो पूछना ही क्या। परिणाम स्पष्ट है। आज धनपति जिस प्रकार चाहें न्याय को खरीदें। न्याय बेचने वालों के विरुद्ध कड़े-से-कड़े राज नियम बनाने प भी इस रोग का निवारण नहीं हो सकता, क्योंकि न्याय बेचने वालों का न्याय करने वाले भी, यह न्याय बेचने वाले ही हैं। जब तक प्रतिष्ठा को धन से पृथक् नहीं किया जायगा, यह रोग कभी दूर न होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि ब्राह्मण गौरव के बल से क्षत्रियों को मर्यादा में रखें। क्षत्रिय शासन के बल से ब्राह्मणों को मर्यादा में रखें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की शक्ति का दुरुपयोग न होने देने के लिए, एक के मुकाबले की शक्ति दूसरे वर्ग को देना, जिससे वह सब शक्तियाँ तुली रहें, इस सिद्धान्त का नाम शक्ति प्रतिमान है।

ग. यथायोग्य दक्षिणा

ऊपर के दोनों सिद्धान्तों में यह दिखाया गया है, कि समाज अथवा राष्ट्र को इस व्यवस्था से क्या लाभ है, तथा सामाजिक हित की दृष्टि से वर्णव्यवस्था किस प्रकार की योजना है, किन्तु अन्ततोगत्वा सामाजिक नियम व्यक्ति के सुख के लिए ही तो बनाये जाते हैं। अतः व्यक्ति की दृष्टि से

वर्णव्यवस्था हर एक व्यक्ति को 'आलम्बन पदार्थों" के रूप में सामान्य दक्षिणा के अतिरिक्त यथायोग्य विशेष दक्षिणा भी देने का प्रबन्ध करती है।

प्रश्न हो सकता है कि संसार-भर की सब ही सामाजिक व्यवस्थाओं का उद्देश्य यह है, वर्णव्यवस्था में कौन सी विचित्रता है ? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कहना है, कि अब तक दक्षिणा देने के जितने प्रकार के नियम किए गए हैं, उनमें धन ही एक-मात्र साधन माना गया है। योग्यतानुसार धन की मात्रा कम अथवा अधिक देकर हम सन्तुष्ट हो जाते हैं, कि हमने यथायोग्य दक्षिणा दे दी। किन्तु केवल मात्र-भेद से संतुष्टि नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु उपयोगी नहीं है वह किसी मात्रा में भी उपयोगी नहीं है। अपने शरीर को ही दृष्टान्त समझ लीजिए। पेड़ा रसना (जीभ) के लिए उपयोगी है, किन्तु आंख, नाक, कान के लिए जो मूल्य एक पेड़े का है वही पेड़ों के एक थाल का है। इसी प्रकार संगीत कान की दक्षिणा है। किन्तु रसना तथा नासिका के लिए गधे के रेंगने से लेकर संसार के सबसे सुरीले कण्ठ की काकली तक सब व्यर्थ है। इसी प्रकार फूल नासिका के लिए उपयोगी है। परन्तु कान के लिए एक से लेकर विशाल हार तक सब फूल निरर्थक हैं। यहाँ मात्रा-भेद नहीं; किन्तु प्रकृति भेद है। ठीक इसी प्रकार मनुष्यों की मानसिक रचना में भी भेद है। एक विद्या-व्यसनी के लिए धन का मूल्य उसकी विद्योन्नति की सामग्री है। एक यशोधन क्षत्रिय के लिए विशाल वैभव के सामान निरर्थक हैं। संसार में सत्य-धन, तपो-धन, यशो-धन, आदि अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। सब को सोना चाँदी के मूल्य में दक्षिणा देना उपहास-मात्र है।

उत्तर में कहा जा सकता है, कि धन द्वारा सत्य-धन व्यक्ति सत्य के खोज की सामग्री, यशो धन यशो वृद्धि की सामग्री, तपोधन सेवा की सामग्री मोल ले सकता है। फिर क्यों न धन को ही दक्षिणा का साधन बनाया जाय ? किन्तु ऐसा पूछने वाले यह भूल जाते हैं कि ऐसा करने से संसार में धन का गौरव सबसे अधिक बढ़ जाता है, और शक्ति प्रतिमान में बाधा होती है।

यदि ब्राह्मण को जिज्ञासुओं की मण्डली और ज्ञान वृद्धि के साधन सीधे इसीलिए मिल जावें, कि उसने अपना जीवन मानव जाति की ज्ञान वृद्धि के निमित्त अर्पण किया है, तो जहाँ धन का गौरव नहीं बढ़ता वहाँ इसमें चोरी तथा धोखे की सम्भावना कम हो जाती है। एक मनुष्य जब यह

देखता है, कि विद्या, चरित्र आदि के बिना भी वह धन के आधार पर पूजा, शासनाधिकार आदि सब-कुछ पा सकता है, तो उसकी प्रवृत्ति चोरी, लूट, धोखा आदि की ओर होने की अधिक सम्भावना है। परन्तु विद्या तथा चरित्र तो चुराये नहीं जा सकते। इसलिए जब समाज में सब से ऊँचा स्थान धनहीन चरित्र तथा विद्या को मिलेगा तो चोरी स्वयं बहुत कम हो जायगी।

इसलिए ब्राह्मण को ज्ञान-वृद्धि के साधन तथा पूजा दी गई। क्षत्रिय को शासनाधिकार दिया गया। वैश्य को सांसारिक वैभव दिया गया। यही उनकी यथायोग्य दक्षिणा है। इसी की प्राप्ति के लिए उन्होंने अपने-अपने वर्ण का वरण (चुनाव) किया है।

: ५ :

मार्क्सवाद तथा वर्णव्यवस्था

यद्यपि सामाजिक संगठन की अनेक व्यवस्थाएँ इस समय तक विद्वानों ने उपस्थित की हैं किन्तु इस ग्रन्थ में हमें मार्क्स के समाजवाद के साथ ही तुलना करनी है। क्योंकि यही एक ऐसा वाद है जिसे क्रियात्मक रूप देकर रूस ने उसमें जान डाल दी है, तथा संसार-भर के विचारकों, और विशेषकर शारीरिक श्रमजीवियों, का ध्यान इसकी ओर विशेष आकृष्ट हुआ है। शारीरिक श्रमजीवी वर्ग के लिए तो यह इस समय उन्माद का रूप धारण कर चुका है।

इस तुलना के लिए एक बार हमें उन कसौटियों को दोहरा देना आवश्यक है जिनके आधार पर हम निर्णय करना चाहते हैं। हमें देखना है, कि इन दोनों व्यवस्थाओं में से

(१) किसमें "आलम्बन पदार्थ" सबको (श्रम करने से इन्कार करने वालों को छोड़ कर) प्राप्त हो जाते हैं;

(२) किसमें अधिकारों का अधिक-से-अधिक सदुपयोग होता है;

(३) किसमें अनुग्रह तथा निग्रह दोनों की ठीक व्यवस्था है, अर्थात् किसमें कार्य न करनेवालों को अधिक-से-अधिक भय तथा करने वाले को अधिक-से-अधिक आत्म-विकास के लिए उत्साह प्राप्त होता है।

हमें यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं, कि वर्तमानकाल में प्रचलित सम्पूर्ण सामाजिक सङ्गठनों में से मार्क्सवादी सङ्गठन में आलम्बन पदार्थों के सबके लिए अधिक-से-अधिक सुलभ होने की सबसे अच्छी व्यवस्था है। जब राष्ट्र ने पदार्थों की उत्पत्ति के हरएक साधन पर कब्जा कर लिया तो, निरर्थक उत्पत्ति को रोकना उनके लिए अत्यन्त सुखसाध्य हो गया। साथ

ही बँटवारे का अन्याय भी निःसन्देह दूर हो जायगा, विशेषतः, उन स्थूल पदार्थों के बँटवारे का जो तोले और मापे जा सकते हैं। क्योंकि अब पदार्थों का बाँटना केवल-मात्र व्यक्ति की इच्छा पर अवलम्बित नहीं रह जाता। यही कारण है कि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों ने एक बार संसार की व्यवस्था को जड़ों से हिला दिया, तथा उसके विरोधियों को भी श्रम-जीवियों के कष्ट-निवारण तथा सुखवृद्धि के उपाय वैसे ही करने पड़े जैसे रूस में मार्क्स के अनुयायियों ने किए हैं जहाँ अभी तक ऐसा नहीं हुआ, वहाँ भी श्रमजीवी धीरे-धीरे जाग रहे हैं और यह घोर परिवर्तन अवश्यम्भावी है।

किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं, कि हम भविष्य में ज्ञानवृद्धि के सम्बन्ध में आँख मूँद लें और यह समझ लें, कि मार्क्सवादियों की व्यवस्था में अब और किसी सुधार का अवकाश ही नहीं। जहाँ मार्क्सवाद की व्यवस्था है, वहाँ इसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि मार्क्सवाद का मुख्य आधार भय है। जो काम न करे उसे भयभीत करो। यहाँ तक कि प्राण दण्ड दे दो। इसी पर मार्क्सवाद का अधिक बल है। यही कारण है, कि मार्क्सवादी अन्याय के विरुद्ध आन्दोलन उठाने में ईर्ष्या को बहुत उभारते हैं। जहाँ तक अन्याय के विरुद्ध न्याय की भावना को उत्तेजित किया जाय, वहाँ तक तो मानव-समाज की कोई हानि नहीं। किन्तु ईर्ष्या तो एक ऐसी राक्षसी है, जसकी भूख ब्रह्माण्ड को भी निगल कर समाप्त नहीं होती। अन्याय की समाप्ति न्याय से हो जाती है। किन्तु ईर्ष्या की समाप्ति कहीं नहीं। सम्भव है कि मार्क्सवादी इस आक्षेप को सुन कर एकदम गरम हो उठे। किन्तु सत्य तो सत्य है, वह तो कहना ही पड़ता है। देखिए इस वषय में बरट्रेण्ड रस्सल (Bertrand Russal) क्या लिखते हैं—

*The instability of social status in the modern world and the equalitarian doctrines of democracy and socialism have

---

*आज के संसार में, सामाजिक स्थिति की अस्थिरता तथा प्रजातन्त्र और समाजवाद के समाजवादी सिद्धान्तों ने ईर्ष्या का बहुत विस्तार कर दिया है। हमारा समय, इसलिए, वह समय है, जिसमें ईर्ष्या बहुत विशेष स्थान रखती है। निर्धन धनियों से ईर्ष्या करते हैं, निर्धन जातियाँ धनी जातियों से ईर्ष्या करती हैं, स्त्रियाँ पुरुषों से ईर्ष्या करती हैं, सती स्त्रियाँ उन असती स्त्रियों से ईर्ष्या करती हैं जो, दुराचारिणी होकर भी, अदण्डित रहती हैं। यद्यपि

greately extended the range of envy··········Our age is therefore one in which envy plays a peculiarly large part. The poor envy the rich, the poorer nations envy the richer nations, women envy men, virtuous, women envy those who, though not virtuous, remain unpunished. While it is true that envy is the chief motive force leading to justice as between different classes, different nations, and different sexes, it is at the same time true that the kind of justice to be expected as a result of envy is likely to be of the worst possible kind; namely that which consists rather in diminishing the pleasures of the fortunate than increasing those of the unfortunate. Passions, which work havoc in private life, work havoc in public life also. It is not to be supposed that out of something as evil as envy good results will follow. Those therefore who from idealstic reasons desire profound changes in our social system and a great increase of social justice [must hope that other forces than envy will be instrumental in bringing the changes about.

(Bertrand Russel in Conquest of Happiness. P. 90. & 91.)

इस प्रकार स्पष्ट है कि मनु ने अवनति के जो दो कारण—

(१) "अपूज्या यत्र पूज्यन्ते" (अपूज्यों को पूजा)

(२) "पूज्या "नांच" व्यतिक्रमः" (पूज्यों की अपूजा)

बताए हैं, उनमें से "अपूज्यों की पूजा" के निवारणार्थ तो मार्क्सवाद ने पूरा बीड़ा उठाया है किन्तु "पूज्यों की पूजा" सिखाने में यह दुर्बल है। यही

विभिन्न वर्णों, जातियों और स्त्री-पुरुषों में न्याय स्थापित कराने के लिए ईर्ष्या एक मुख्य प्रेरक भाव है, तो भी ईर्ष्या से प्राप्त होने वाला न्याय सबसे बुरी श्रेणी का न्याय है। यह न्याय भाग्यशीलों का सुख जितना कम करता है उतना अभाग्यशीलों का सुख नहीं बढ़ाता। जो मनोविकार वैयक्तिक जीवन में तबाही मचा देते हैं, वे सामाजिक जीवन में भी तबाही मचाते हैं। ईर्ष्या जैसी बुरी चीज से अच्छे परिणामों की आशा नहीं रखी जा सकती। जो लोग आदर्शवादिता के कारण वर्तमान सामाजिक रचना में गहरे परिवर्तन चाहते हैं, और न्याय को बढ़ाना चाहते हैं, उन्हें ईर्ष्या के स्थान में दूसरी भावनाओं को इस कार्य में साधन बनाना चाहिए।

कारण है, कि मार्क्स, लेनिन आदि महात्माओं के अनुयायी प्रायः असभ्य, कटुवादी तथा पगड़ी उछाल और गुस्ताख होते हैं। इस उच्छृंखलता रोग से बचने के लिए महात्मा लेनिन को विशेष उद्योग करना पड़ा था। महात्मा लेनिन के जीवन चरित्र में हम पढ़ते हैं—

'The staff officers felt injured; their Commander came to Lenine's room to resign.

"Blazing with wrath, the head of the Government shouted at him; "We shall have you shot; I order you to go on with your work and not disturb me at mine."

लेनिन को सब शासन सूत्र अपने हाथ में लेते देखकर उसके स्टाफ आफिसर विगड़ उठे थे। वे ईर्ष्या से जल उठे। उस समय का यह वर्णन है। उद्धरण का शब्दार्थ यों है—

"स्टाफ आफिसरों ने अपना अपमान समझा। उनका नायक त्यागपत्र देने के लिए लेनिन के कमरे में आया।"

"गुस्से से जलते हुए लेनिन ने चिल्लाकर उससे कहा—हम तुम्हें गोली से उड़ा देंगे। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, कि जाकर अपना काम करो और मेरे काम में बाधा मत डालो।"

अपनी पूजा अर्थात् अपनी आज्ञाओं का पालन कराने के लिए लेनिन को कितना कठोर होना पड़ता था।

जहाँ "अपूज्यों को दण्ड" देने से वह भयभीत होते हैं, वहाँ "पूज्यों की पूजा" से प्रजा में उत्साह की वृद्धि होती है। किन्तु यही दूसरा अंश है जिसमें मार्क्सवाद दुर्बल है।

इसकी दुर्बलता का एक और कारण ममता का समूल नाश है। हम पहिले ही दिखा आए हैं कि मनुष्य चार प्रकार के हैं—

(१) निष्काम सेवक महात्मा,
(२) सकाम सेवक सामान्य लोग,
(३) स्वार्थान्ध राक्षस, और,
(४) निष्काम दुष्ट।

अब इनमें महात्माओं को छोड़ दीजिए। किन्तु साधारण मनुष्य जहाँ निरंकुश शक्ति पाने पर अत्याचारी हो जाते हैं, वहाँ निष्काम कर्म करने में उत्साहहीन हो जाते हैं। जब तो पापियों को दण्ड देने तथा पूंजीवादियों से

अधिकार छीनने का प्रश्न उठता है तब तो मार्क्सवादी मनुष्य मात्र को प्रच्छन्न राक्षस के रूप में देखते हैं। किन्तु जब श्रम का पुरस्कार देने का समय आता है, तो वे मनुष्य मात्र को निर्मम, निरहङ्कार, समदुःख—सुख, महात्मा मान लेते हैं। यह परस्पर विरोध ही मार्क्सवाद के सबसे दुर्बल अङ्ग हैं।

जहाँ निरंकुश, कुलपरम्परागत अधिकार मानने के कारण पौराणिक संसार भय का समूलनाश कर देता है वहाँ मार्क्सवाद ममता का नाश करके साधारण मनुष्यों को बिल्कुल उत्साह हीन बना देता है। इसके विपरीत वर्ण-व्यवस्था में सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार तथा समाज के अधिकार का उचित समन्वय है।

पौराणिकों का कथन है, क्योंकि उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले कुछ पुरुष उस अधिकार का सदुपयोग करते हैं, इसलिए उन कुलों में जो दुष्ट हैं उन्हें भी अधिकार दे दो। इसके विपरीत मार्क्सवादी कहते हैं, क्योंकि कुछ मनुष्य इन अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं इसलिए सदुपयोग करने वालों के भी अधिकार छीन लो। यह दोनों ही वाद हेत्वाभास पर अवलम्बित हैं।

समन्वय का मार्ग तो इस प्रकार है, कि जो सदुपयोग करे उसका अधिकार रहने दो, किन्तु दुरुपयोग करने वाले के अधिकार छीन लो। अर्थात् "सबके साथ प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथा योग्य बर्तो‡।" बस हम, न साम्यवादी हैं, न उत्तराधिकारवादी, हम हैं यथायोग्यवादी।

इस प्रकार दोनों पर एक तुलनात्मक दृष्टिपात करने के पश्चात् हम वर्णव्यवस्था तथा मार्क्सवाद को पूर्वोक्त कसौटियों पर कसते हैं।

हमारी प्रथम कसौटी यह है कि आलम्बन पदार्थ सबको प्राप्त हो जावें। वर्तमान युग में प्रचलित सब व्यवस्थाओं की अपेक्षा यह गुण मार्क्सवाद में सबसे अधिक है। यह मानने पर भी हम मार्क्सवाद को वर्णाश्रम-व्यवस्था के सामने इस अंश में भी हीन पाते हैं। उदाहरण के लिए, सबसे प्रथम आलम्बन पदार्थ ज्ञान अथवा विद्या को ही ले लीजिए। एक ओर विद्या दान का एक मात्र साधन राष्ट्र से वेतन पाने वाले अध्यापक हैं। दूसरी ओर एक ऐसी श्रेणी है जिन्होंने बालकपन से ही विद्या को अपने जीवन का ध्येय बनाया

‡ऋषि दयानन्द ने, वेद शास्त्रों के आधार पर आर्यसमाज का सातवाँ नियम यह रखा है—"सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथा योग्य बरतना चाहिये।"

है और इस श्रेणी की सहायता के लिए, राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति भी, जिसे अक्षर मात्र का भी ज्ञान वानप्रस्थाश्रम में, इस श्रेणी के साथ मिलकर राष्ट्र की विद्या की समस्या को सुलझा रहा है। प्रथम तो किसी भी राष्ट्र के पास इतना धन आना कठिन है कि वह केवल वेतन भोगियों के सहारे सारे राष्ट्र के बालकों का सुशिक्षित कर सके। फिर, इन दोनों के कार्य में वही भेद है जो एक पहलवान में तथा एक मजदूर में है। शारीरिक श्रम दोनों एक सा करते हैं। किन्तु पहलवान का शरीर सुडौल और शक्ति—सम्पन्न हो जाता है। दूसरी ओर, मजदूर में यह बात देखने में नहीं आती। किम्बहुना, यह बात हम नहीं जानते हैं कि जितने बढ़िया काम करने वाले हैं; वह विश्वास और प्रेम के बल से जितना कार्य कर सकते हैं, उतना लोभ अथवा भय से नहीं। किन्तु मार्क्सवाद में इस स्वेच्छा से दान का बहुत कम स्थान है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वर्णव्यवस्था में वेतनभोगियों को भी स्थान है तथा स्वेच्छा से कार्य करने वालों को भी, तथा उसमें विशेष बल इस बात पर दिया जाता है कि जहाँ तक हो सके मनुष्यों को ऐसी शिक्षा दें कि वह ममता को रखते हुए भी स्वेच्छा से दान दें। किन्तु मार्क्सवाद में अधिक बल दण्ड पर है। जो गाय स्वयं दूध देना चाहती है, डाँट-डपट कर उससे दूध क्यों लिया जाय ?

दूसरी बात यह है कि ममता को यथोचित स्थान मिलने से उत्तम कोटि के पदार्थों की उत्पत्ति अधिक बढ़ जाती है। मान लीजिए कि अपने—आप को नौकर मानते हुए एक मनुष्य ने एक लाख मन अनाज उत्पन्न किया, और राष्ट्र ने उससे ९९ सहस्र मन छीन लिया, तो राष्ट्र ने उससे ९९ सहस्र मन पाया। दूसरी ओर यदि उसे यह ज्ञान हो कि सम्पत्ति उसकी है, और वह दो लाख मन उत्पन्न करे, तो ५० सहस्र मन अपने पास रखने पर भी वह राष्ट्र को १,५०,००० मन दे सकता है। इस प्रकार उसे नौकर बनाने से राष्ट्र को पहले ९९,००० मन अनाज मिला था, और अब १,५०,००० मन मिलता है। ममता निकाल कर खाली नौकर बनाने से राष्ट्र ५१ सहस्र मन के घाटे में रहता है।

यह तो हुआ स्थूल गेहूँ आदि पदार्थों के सम्बन्ध में। अब काव्य, चित्र कला, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के सम्बन्ध में भी यही बात है। कार्यकर्त्ता को जितना आदर तथा साधन सामग्री अधिक मिलेगी, तथा कार्य करने की

जितनी अधिक स्वतन्त्रता होगी उतना ही अधिक कार्य अच्छा कर सकेगा। और यदि उसे यह विश्वास हो कि मैं अपने अपरिपूर्ण स्वप्न किसी योग्य उत्तराधिकारी द्वारा भी पूर्ण करने का अधिकार रखता हूं तो उसका उत्साह और भी अधिक बढ़ेगा। यह ठीक है कि उत्तराधिकारी योग्य है अथवा अयोग्य इस विषय में समाज को भी अपनी सम्मति देने का अधिकार है। अथवा सच पूछिए तो इसका अन्तिम अधिकार है ही समाज को। परन्तु समाजवादियों ने व्यक्ति के इस अधिकार को सर्वथा निर्मूल करके मानव स्वभाव सुलभ एक बड़े भारी उत्साह के उद्दीपक का नाश कर दिया है।

ममता के नाश की अपेक्षा उसे रखने में अधिक लाभ है, इसका एक और उदाहरण ले लीजिए। समाजवादी चाहेगा कि बच्चे दाइयों द्वारा पाले तथा बड़े किये जावें। वह नर्सों को मां बनाना चाहेगा। वर्णव्यवस्था में हर एक मां को एक अच्छी नर्स बनाने का यत्न किया जायगा। इन दोनों के भेद को स्पष्टतया देख लीजिए। हमें देखना चाहिए कि हर एक स्त्री क्या एक सी नर्स अथवा दाई बन सकती है।। इसके दो ही उत्तर हो सकते हैं, हां अथवा नहीं। अब यदि इसका उत्तर नहीं में है तो सबको एक सी नर्स न मिलने से विषमता आ जायगी, और यह निश्चय करना कठिन हो जायगा कि अच्छी नर्स किसे मिले। यदि इसका उत्तर हां में है तो सब माताओं को एक सी धात्री बना देने से यह विषमता दूर ही हो जायगी। अब रहा मातृ-प्रेम का प्रश्न। सो यह लगभग सब माताओं में एक सा होता है। इसलिए हरएक बालक को उसकी स्वाभाविक माता के पास रखकर पालना तथा हर एक माता को शिशु—पालन की उचित शिक्षा तथा सामग्री देना ही ठीक उपाय है। समाजवादियों का कहना है कि इससे ममता की मात्रा अत्यन्त बढ़ जाती है और इससे समाज के हित की हानि होती है। किन्तु इसका प्रतिकार वर्णाश्रम—व्यवस्था में ब्रह्मचर्याश्रम द्वारा किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में, बच्चे जिस आयु में उन्हें मातृ-प्रेम की अत्यन्त अपेक्षा होती है उससे निकल जाने पर, माता-पिता से पृथक् करके, गुरु के अर्पण कर दिये जाते हैं। इस प्रकार मातृ-प्रेम से जो लाभ प्राप्त हो सकते हैं वे तो प्राप्त हो जाते हैं परन्तु उससे होने वाली हानियाँ नहीं होतीं।

इसके अतिरिक्त समाजवादी विचार परम्परा में एक और हानि सन्तान के सम्बन्ध में उत्तरायित्व की भावना का नाश है। यदि एक मनुष्य को यह

विश्वास हो जाय कि सन्तान के पालन पोषण में उसका उत्तरदायित्व कुछ भी नहीं तो राष्ट्र के गले एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे बच्चों की पड़ जायगी जिसे कालान्तर में सँभालना कठिन हो जायगा।

यदि एक शब्द में कहना हो तो व्यक्ति के अधिकारों के ह्रास के साथ व्यक्ति की कर्त्तव्यबुद्धि का ह्रास भी अवश्यम्भावी है। इसमें लोगों के उत्तरोत्तर समाज के आश्रय की ओर ताकने का, और, आत्मनिर्भर की न्यूनता का भय निरन्तर रहेगा। जिस प्रकार भाग्यवादी सदा विधाता की ओर तथा राजतन्त्र राज्य में सब राजा की ओर ताकते रहते हैं, समाजवादी व्यवस्था में सब समाज की ओर ताकने के अभ्यासी हो जावेंगे। यह व्यक्ति और समाज का, त्वष्टा और इन्द्र का, युद्ध आज का नहीं सदा से चला आया है, और इसके आदर्श समन्वय में ही मानव समाज का कल्याण है। वह आदर्श समन्वय वर्णव्यवस्था में ही है। इसमें न तो पूंजीवाद की तरह व्यक्ति का निरंकुश अधिकार है और न समाजवाद की तरह उसके अधिकारों का समूल नाश है। इसमें व्यक्तियों के अधिकारों को स्वीकार करते हुए भी उस पर कठोर अंकुश रक्खा गया है। समाजवाद तलवार से व्यक्ति के अधिकार रूपी हाथी की गर्दन काटता है। पूंजीवाद उसे मदान्ध हाथी की तरह चारों ओर विध्वंस काण्ड मचाने की स्वतन्त्रता देता है। किन्तु वर्णव्यवस्था इस हाथी को अंकुश से वश में लाकर प्रजा का कल्याण करती है। यही समन्वय, वर्णव्यवस्था की विशेषता है।

इस प्रकार समन्वय रूप से वर्णव्यवस्था तथा समाजवाद की तुलना कर के हम वह क्रियात्मक उपाय बताते हैं जिससे वर्णव्यवस्था में आलम्बन यथार्थ सबको प्राप्त हो जावेंगे—

(१) "श्रद्धया देयम्" अर्थात् समाज में सर्वस्व त्यागियों को सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त करते देखकर लोग स्वयं ही अपनी कमाई का बड़ा भाग दान करेंगे।

(२) राज्य की ओर से नियम होगा कि श्रमजीवियों को नियत सुविधाएं अवश्य दी जावें, और जो पूंजीपति वह सुविधाएँ न देगा अथवा उनके साथ दुर्व्यवहार करेगा, अथवा श्रमजीवियों के भाग में से छीनेगा, उसकी सम्पत्ति छीन ली जायगी। वर्तमान निरंकुश

पूंजीवाद में यह व्यवस्था नहीं है। यदि इस प्रकार की व्यवस्था में धनपति का व्यवहार अपने श्रमजीवियों के साथ उससे भी अच्छा हो, जैसा वर्तमान रूप में है, तो फिर उसकी सम्पत्ति क्यों छीन ली जाय, इसका कोई कारण नहीं समझ में आता।

(३) कर द्वारा पूंजीपतियों के धन का बहुत बड़ा भाग प्रजा के हित में लगाया जायगा।

इस प्रकार—(१) दान, (२) भय, और, (३) कर इन तीन साधनों द्वारा समाज के हित का, तथा सम्पत्ति की ममता तथा उत्तराधिकार द्वारा व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करके उसके अधिकारों का, इस प्रकार दोनों का समन्वय किया गया है।

कहा जा सकता है, कि इस प्रकार भी व्यक्ति के अधिकार घटते-घटते लगभग वहीं पहुंच जाते हैं, जहां समाजवादी पहुंचाना चाहते हैं। फिर इन दोनों में अन्तर क्या है? इसका उत्तर है—आत्म-सम्मान की रक्षा। यदि एक चतुर प्रवन्धकर्ता, अपनी सेवा के बदले में इतना सम्मान प्राप्त करके कि वह अपने कारखाने का स्वामी है, पहिले की अपेक्षा दस गुना कार्य करे, तथा श्रमजीवियों के हित में अपनी जान लड़ा दे, तो यह सौदा मँहगा नहीं है, आत्म-सम्मान का मूल्य क्या है, यह वही जानते हैं, जिनके आत्म-गौरव पर कभी आघात पहुँचा है। वर्णव्यवस्था में छोटे-से-छोटा श्रमजीवी भी अपने घर का स्वामी है, और समाजवाद में बड़े-से-बड़ा विभाग का अध्यक्ष भी एक भृत्य मात्र है। यही इन दोनों का भेद है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि

मार्क्सवाद में	वर्णाश्रम-व्यवस्था में
(१) भोजन वस्त्रादि आलम्बन पदार्थ पर्याप्त मात्रा में सबको मिल सकेंगे।	(१) भोजनवस्त्रादि आलम्बन पदार्थ पर्याप्त मात्रा में तथा उत्कृष्टतर कोटि के सबको मिल सकेंगे।
(२) व्यक्ति के अधिकारों का नाश होने के कारण पदार्थ कम मात्रा में और निचली कोटि के पैदा होंगे।	(२) व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के कारण पदार्थ अधिक मात्रा में तथा उत्कृष्टतर कोटि के पैदा होंगे।

(३) दण्ड का भय होने के कारण बँटवारे में अत्याचार न हो सकेगा, तथा श्रमजीवियों का शोषण न होगा।

(४) उचित पारितोषिक न मिलने से सामान्य मनुष्यों में उत्साह मन्द रहेगा।

(३) क्षत्रियों के दण्ड-भय और ब्राह्मणों के सदुपदेश से बँटवारे में अत्याचार न हो सकेगा, तथा श्रमजीवियों का शोषण न होगा।

(४) ममता और उत्तराधिकार की उचित रक्षा (निरंकुश नहीं) के कारण सामान्य मनुष्यों के उत्साह का भी अधिक से अधिक विकास होगा।

दूसरे शब्दों में मार्क्सवाद में मन्दोत्साह उत्पत्ति+बल पूर्वक बँटवारा है। वर्णव्यवस्था में पूर्णोत्साह उत्पत्ति+यथासम्भव स्वेच्छा पूर्वक बँटवारा है।

इस प्रकार वर्णव्यवस्था के पक्ष में उत्साह और स्वेच्छा पूर्वकता अधिक रहे, यही इसकी विशेषता है। फिर आश्रम व्यवस्था द्वारा उत्तम मनुष्यों की उत्पत्ति इसमें मिल जाने से वर्णाश्रम व्यवस्था का दर्जा मार्क्सवाद की अपेक्षा अत्यन्त ऊँचा हो जाता है।

———

: ६ :

आश्रम-व्यवस्था

ब्रह्मचर्याश्रम

आश्रम-व्यवस्था का मूलाधार ऋतु परिवर्तन है। यदि मनुष्य की अवस्था जन्म से लेकर मरण पर्यन्त एक रस रहे, तो उसे किसी आश्रम व्यवस्था की अपेक्षा नहीं। परन्तु हम देखते हैं, कि उसकी सारी आयु एक रस नहीं रहती। पहिले ५ वर्षों में जिस तीव्र वेग से उसके शरीर की वृद्धि होती है, वैसी अगले ७ वर्षों में नहीं होती। पहिले १८ वर्षों में जैसी उसकी वृद्धि होती है, वैसी अगले ७ वर्षों में नहीं होती। और २५ वर्ष के पश्चात् उसकी अवस्था लगभग टिक सी जाती है। और ४० वर्ष तक इसी प्रकार रहती है। हां, इस समय में उसका मस्तिष्क अवश्य विकाश करता है। फिर, ४० वर्ष के पश्चात् मस्तिष्क में भी परिवर्तन बन्द से हो जाते हैं। काम की अपेक्षा वात्सल्य की ओर उसका अधिक झुकाव होता है। और, अतएव दादा और दादी, पोते पोतियों, से उनके माता-पिता की अपेक्षा, अधिक लाड़ करते पाये जाते हैं। उसके पश्चात् ६० वर्ष के लगभग एक विरक्ति का प्रादुर्भाव होता है। ऊंचे दर्जे के मनुष्यों में वह विश्व-प्रेम के रूप में प्रगट होती है, मध्यम श्रेणी के लोगों में वह निराशावाद के रूप में प्रकट होती है, और निम्न श्रेणी के लोगों में वह अतिस्वार्थ रूप में होती है। निम्नतम श्रेणी के मनुष्यों को सामने मृत्यु दीखती है। इसलिए वह कहते हैं, लूट लो जितनी मौज लूटी जाय। ऊंची श्रेणी के लोग कहते हैं, लूट लो जितना परोपकार लूटा जाय। मध्य श्रेणी के लोग कहते हैं, क्यों वृथाभिमान करते हो अन्त तो मृत्यु ही है। कुछ भी हो विरक्ति अवश्य आती है। इस

प्रकार यह चार अवस्थाएँ हुई—

(१) वृद्धि;

(२) परिपाक;

(३) वात्सल्य;

(४) विरक्ति (मृत्यु प्रतीक्षाजन्य)

अब यह स्पष्ट है, कि वृद्धि की अवस्था में सबको समान अवसर न देना अन्याय होगा, 'क्योंकि परिपाक की अवस्था में हम गुणों के अनुसार छोटे-बड़े का भेद मानते हैं, अतः उन गुणों के प्राप्त करने के समय यह भेद बिलकुल मिट जाना चाहिए। दौड़ में सबसे आगे निकलने वाले को पारितोषिक देने से पहिले आवश्यक है, कि दौड़ एक ही रेखा पर, एक-सी भूमि में ठीक एक समय पर, एक, दो, तीन कहकर, आरम्भ हो।

१. (क) आगे निकलने वाले को छोटा कहना, तथा,
(ख) पीछे निकलने वाले को पारितोषिक देना, यह वर्तमान युग की अवस्था है,

२. (क) आगे निकलने वाले, तथा,
(ख) पीछे निकलने वाले को एक समान समझना साम्यवाद है।

३. (क) आगे निकलने वाले को बड़ा तथा,
(ख) पीछे निकलने वाले को छोटा समझना; वर्ण-व्यवस्था है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वर्णव्यवस्था छोटे-बड़े के भेद को मानती है। परन्तु मानती है, गुणों के आधार पर। इसलिए आवश्यक है, कि गुण-परीक्षा से पहिले और गुण-परीक्षा से पीछे के समय में भेद किया जाय।

गुण-परीक्षा से पहले सबको समान अवसर दिया जाय। गुण-परीक्षा के पश्चात् सबको यथायोग्य "कर्त्तव्य" तथा "अधिकार" रूप फल दिया जावे। परीक्षा से पहिला समय "वृद्धि" । है, तथा परीक्षा से पीछे 'परिपाक" का।

यह वृद्धि तथा परिपाक का भेद ही ब्रह्मचर्याश्रम को गृहस्थाश्रम से पृथक् करता है। इसी लिए ऋषि दयानन्द ब्रह्मचर्याश्रम के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"सबको तुल्य वस्त्र, खान, पान, आसन दिए जांये। चाहे वह राजकुमार

चा राजकुमारी हो, चाहे वह दरिद्र के सन्तान हों।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)।

परीक्षा के पश्चात् क्या होना चाहिए, यह भी सुनिए। अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण योग्य दूसरे सन्तान "विद्यासभा" और "राज-सभा" की व्यवस्था से मिलेंगे। वर्ण के निर्णय के लिए—

"यह गुणकर्मों की व्यवस्था, कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास)।

अब हमारे सामने दोनों बातें स्पष्ट हैं। परीक्षा से पहले तुल्य व्यवहार, परीक्षा के पश्चात् यथायोग्य, स्ववर्णानुकूल व्यवहार।

अब यह भी समझ लेना चाहिए कि परीक्षा के पश्चात् इस व्यवहार के भेद का बीज भी परीक्षा से पूर्व ही बोया जाना चाहिए। इसलिए ध्यान रहे, कि ऋषि दयानन्द ने हर एक बात में तुल्यता नहीं रक्खी। खान, पान, आसन आदि वे शारीरिक गुण जिनमें सब मनुष्य लगभग समान हैं, उनमें ही तुल्यता रक्खी है। वह तुल्यता और भी स्पष्ट हो जाती है जब उसका कारण सामने आता है। ऋषि लिखते हैं; कि ऐसा क्यों करें? क्योंकि सबको "तपस्वी होना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि इस तुल्यता का मुख्य उद्देश्य सबको तपस्वा बनाना है।

अब हमने तुल्यता तो समझ ली। अब भेद की ओर दृष्टिपात करना चाहिए। सबसे पहली बात तो यह है कि भेद जो भी हो, उसमें जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए, नहीं तो तुल्यता नहीं रही। हर एक बालक को पूर्ण अधिकार होना चाहिए कि वह अपना मार्ग स्वयं चुने, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनों के अधिकार तथा कर्तव्य उसे खोलकर समझा दिये जाने चाहिएँ। फिर, उन्हें भली प्रकार समझकर वह अपने वर्ण का वरण (चुनाव) करे। इस स्वयं वरण के कारण ही ब्राह्मणादि वर्णों का नाम वर्ण है। इसी लिए भगवान् यास्क लिखते हैं—"वर्णो वृणोतेः।"

अब हमें ब्रह्मचर्यकाल के दो भेद भी समझ आ गए। एक वर्ण के वरण से पहले का, और एक पीछे का। सारी बात का सार यह निकला कि शिक्षा दो प्रकार की है। एक वर्ण के चुनाव में सहायक, दूसरी वर्ण के गुणों की उत्पादक। पहली शिक्षा देना माता-पिता तथा कुलपुरोहित का कर्तव्य है।

इसी लिए ऋषि लिखते हैं— "द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य कुल, अर्थात्, अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।" सत्यार्थप्रकाश तृतीय सम्मुल्लास)।

फिर आगे चल कर लिखते हैं—

"प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में हो।" (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)।

आगे चलकर जो लिखा है—"शूद्रमपि अनुपनीत मध्यापयेत्" इसका अर्थ यही है, कि जब तक ब्रह्मचारी अपने वर्ण का निश्चय न करे, तब तक उसकी शिक्षा वर्ण-निश्चय के लिए होगी, और उसके पश्चात् निश्चित वर्ण के लिये होगी। हो सकता है, कि माता-पिता का किया निश्चय आचार्य की दृष्टि में ठीक न हो। इस लिए आचार्य कुल में फिर यज्ञोपवीत होता है। हो सकता है; कि कोई बालक माता-पिता के घर से निश्चय करके न आया हो। उसे भी पढ़ाने से निषेध न करना चाहिए। किन्तु उसे भी वर्ण निश्चय में सहायतार्थ पढ़ाना चाहिए। हाँ, मन्त्रदीक्षा वर्ण निश्चय से पूर्व नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो गई—

(१) वर्ण-निश्चय परमावश्यक है।

(२) वर्ण-निश्चय में माता-पिता सहायक हो सकते हैं किन्तु उसका वास्तविक निर्णय आचार्य ही करेगा। इसलिये कहा है—*आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा नित्या साजरामरा।" (मनु० २।१४८) इसमें "तु" माता-पितादि द्वारा निश्चित जाति की हीनता बताता है।

(३) जब तक वर्ण-निश्चय न हो तब तक भी पढ़ना बन्द नहीं किया जा सकता। हाँ, वह पढ़ाई वर्ण-निश्चय के बाद की पढ़ाई से भिन्न होगी।

इस प्रकार हमने देख लिया, कि वैदिक शिक्षाप्रणाली में वर्ण-निश्चय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। हो भी क्यों न ? हम पहले अध्यायों में दिखा आए हैं, कि हमें अभाव, अन्याय और अविद्या—इन तीनों शत्रुओं से एकाग्र-चित्त होकर लड़ने वाले तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के योद्धाओं की अपेक्षा है।

*गायत्री के द्वारा आचार्य शिष्य को जो जाति (वर्ण) देता है वह नित्य, अजर, अमर होती है।

यह तीनों प्रकार के अपेक्षित योद्धा किसी वृक्ष पर लगे हुए नहीं मिलते। बालकपन में ली हुई यह दीक्षा ही इस तैयारी का सबसे बड़ा साधन है।

किन्तु इसके महत्त्व को पूर्ण रूप से समझने के लिए पहिले दीक्षा शब्द के अर्थ को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। यदि आप किसी बालक को व्यायाम के लाभ समझाएँ और उसकी विचार-शक्ति इस बात को स्वीकार कर ले, तो इसे व्यायाम का "आभास" कहते हैं। यह दीक्षा के मार्ग की प्रथम कोटि है। फिर यदि निरन्तर उपदेश से वह सबके साथ मिलकर व्यायाम करने में प्रवृत्त हो, और व्यायाम करने वालों की संगति छूटते ही व्यायाम छोड़ दे—इस कोटि का नाम "आवेश" है। फिर यदि निरन्तर उपदेश से उसके हृदय में स्वयं व्यायाम करने की तरंग उठने लगे यह तीसरी कोटि "आवेग" है। फिर यदि बारंबार उपदेश और अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर वह निश्चय करे, कि अमुक तिथि से मैं अमुक समय में नियमपूर्वक व्यायाम किया करूँगा, तो इस दृढ़ निश्चय का नाम "संकल्प" है। यह चतुर्थ कोटि है। फिर यदि वह अपने संकल्प की शिथिलता देखकर, भगवान् को साक्षी करके, प्रण करे, कि मैं यदि यह नियम भंग करूँ तो अपने आपको अपराधी जानूँगा, तो इस संकल्प का नाम "व्रत" हुआ। यह पाँचवीं कोटि है। फिर यदि वह इसमें और भी दृढ़ता उत्पन्न करने के लिये और लोकलाज से सहायता लेने के लिये गुरु, पुरोहित तथा प्रजा के सामने इस व्रत की घोषणा करे, तो इस व्रत का नाम "दीक्षा" हुआ। यह दीक्षा ही अग्नि है। इसी लिये यह अग्नि साक्षित की जाती है। यह छटी कोटि है। फिर मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह अपने समान दीक्षा में दीक्षित लोगों की संगति में रहे, जिससे कि अपनी दीक्षा में शिथिलता आने पर एक दूसरे को चेतावनी देते रहें, इसलिए यह सातवीं कोटि "यज्ञ" कहलाती है।

दीक्षा से ही यज्ञ का अधिकारी होता है। अतः छठी कोटि तक पहुँचने के पश्चात् यज्ञोपवीत अर्थात् सङ्गठन के लिए बने हुए बन्धन में बाँधा जाता है। उस दिन गुरु कहता है—"‡यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।" (संस्कार विधि)

यह आवश्यक है कि गुरु के "उप", अर्थात्, समीप ले जाने से पूर्व माता

---

‡ हे शिष्य! मैं यज्ञ (संगठन) के प्रतिनिधि यज्ञोपवीत से तुझे बांधकर अपने पास रखता हूँ।

पिता बालक को इन छः कोटियों में से अवश्य निकाल लें। और, यदि वह सीधा आचार्य के पास चला आवे, तो भी आचार्य उसे उसी दिन अपने समीप पहुँचा हुआ जाने जिस दिन बालक के हृदय में दीक्षा की अग्नि जल चुकी हो। केवल शरीर से एक दूसरे के समीप रहना समीप रहना नहीं है। यों तो बेल, पत्ते और दीवार, सिल-बट्टा आदि भी आचार्य के पास रहते हैं। किन्तु जिस दिन दीक्षार्थी होकर विद्यार्थी आचार्य से कहे, कि भगवन्! मुझे अपने साथ बांध लीजिए, उसी दिन उसका उप+नयन अर्थात् समीप लाना हुआ। इसी लिए उपनयन संस्कार में विद्यार्थी हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता है—"उप मा नयस्व" अर्थात् 'मुझे अपने पास रखिये।" और इस प्रार्थना पर आचार्य भी उसका 'कृणुते गर्भमन्तः" (अथर्व० ११।५।३) अर्थात् "गर्भ में धारण करता है।" यह महत्त्वपूर्ण क्रिया आजकल बिलकुल लुप्त हो गई है। और, हमारे गुरुकुलों में भी इसका रीति निर्वाह मात्र होता है। इसीलिए हमें सच्चे फल की प्राप्ति नहीं होती।

भला विचारिये, कि हम दर्जी को कपड़े का थान देने से पूर्व उसे बताते हैं कि कुर्ता, पाजामा, कोट, अचकन, पतलून क्या और किस ढङ्ग का बनाना है। तब उसे कपड़ा देते हैं। यदि ऐसा न करके हम उसके सामने थान पटक कर कह दें कि बनाओ, और, जब वह पूछे कि क्या बनाऊँ? तो कह दें कि कोट, पतलून, अचकन, कुर्ता कुछ बना दो। अथवा यों ही फाड़कर टुकड़े कर दो, तो वह हमारी ओर आश्चर्य से घूर कर देखेगा वा नहीं? जब हम मकान बनवाते हैं, तो अपनी सब आवश्यकताएँ एक चतुर वास्तुविद् को सुना कर उस से उत्तम मानचित्र बनवाते है। तब उसके अनुसार मकान बनवाते हैं। यों राज, मजदूरों को बुलाकर कुआं, बावड़ी, कमरा, मीनार जो चाहा बनाने को नहीं कहते। परन्तु कितना अंधेर है कि बच्चे को, अपने प्यारे बच्चे को, नहीं, नहीं, मानव राष्ट्र की आशाओं के केन्द्र, जाति के उज्ज्वल भविष्य, बच्चे को अध्यापक के सामने ले जाकर पटक देते हैं, कि लीजिए इसे बनाइए। और यदि वह पूछ बैठे, कि क्या बनाऊँ, तो हमारा उत्तर होगा कि मैं कुछ नहीं जानता, आपका जी चाहे सो बनाइए। मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि यह मेरा सिर न खाए। भला बताइए, इस उपेक्षा वृत्ति से भी कभी सन्तान तैयार हो सकती है? इस लिए माता-पिता का धर्म है, कि वह विद्वान् पुरोहित की सहायता से गुरुकुल में जाने से पहिले बालक के हृदय में दीक्षा की अग्नि जला दें।

तीन आयु

अब यहाँ बहुत से लोग यह प्रश्न करते हैं, कि इतने छोटे बालक अपने जीवन का भविष्य कैसे निश्चय कर सकते हैं ? तो इसके विषय में यह निर्णय है कि इस सम्बन्ध में ऋषियों ने तीन प्रकार की आयु निश्चित की है—

(क) अति विशेष बालकों का उपनयन काल;
(ख) साधारण बालकों का उपनयन काल;
(ग) व्रात्य काल।

क. अतिविशेष काल

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥
(मनु २।३७)

अर्थात् "जो अत्यन्त ब्रह्म तेज पाना चाहे उसका उपनयन पाँचवें वर्ष में, जो अत्यन्त बल पाना चाहे उस क्षत्रिय बनने का इच्छा वाले ब्रह्मचारी का छठे और अत्यन्त लक्ष्मी सम्पन्न होने की इच्छा वाले वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन करे।"

यहाँ "ब्रह्मवर्चसकामस्य.' में "कामस्य" यह शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। यही शब्द सारी उपनयन व्यवस्था का प्राण है। इसमें यह शंका नहीं करनी चाहिए कि कोई भी बालक इतनी छोटी आयु में ऐसी कामना नहीं कर सकता। देखिए भगवान् शंकराचार्य ने ३ वर्ष की आयु में विद्यारम्भ की। १६ वर्ष की आयु में विद्या समाप्त करके न केवल ब्राह्मणत्व की कामना की अपितु संन्यासी की कामना की, और इतने बलपूर्वक की, कि माता को १६ वर्ष के बालक को संन्यासी बनने की अनुमति देनी पड़ी। अतएव यदि हमारे घरों की सब व्यवस्था ठीक हो तो छोटी आयु में भविष्य को समझने वाले बालक होना असम्भव नहीं।

ख. साधारण उपनयन काल

अब साधारण उपनयन की आयु इस प्रकार है—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्।
एकादशे क्षत्रियम्।

द्वादशे वैश्यम् ।

आश्वालायन (१।१९।१-३)

यहाँ भी वही "कामस्य" समझना। "ब्रह्मवर्चसकामस्य" के स्थान में "ब्राह्मण्यकामस्य" समझ लेना। जो ब्राह्मणत्व चाहे तो ८वें वर्ष में उसका उपनयन हो, ११ वें में क्षत्रियत्व चाहने वाले का, और १२ वें में वैश्यत्व चाहने वाले का उपनयन हो।

ग. व्रात्य काल

अब उन निकृष्ट श्रेणी वालों का वर्णन करते हैं, जो पतित होने से बच गए हैं। किन्तु उनमें विशेषता कोई नहीं—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रियस्याचतुर्विंशतेर्विशः॥

(मनु० २।३८)

अर्थात् "१६ वर्ष तक, ब्राह्मण बनने की इच्छा वाले का मन्त्र-ग्रहण का समय है। २२ तक क्षत्रिय का, और, २४ तक वैश्य का समय।"

जो इस आयु तक भी निश्चय नहीं कर सका कि वह क्या बनना चाहता है, वह या तो अति जड़मति है या अति चंचलमति है। इन दोनों अवस्थाओं में उसकी अवस्था शोचनीय है, इसलिए वह शूद्र है। किन्तु फिर भी यदि वह मानव-समाज का शत्रु नहीं, दस्यु नहीं, सेवा करना चाहता है, क्षय नहीं करना चाहता, उसकी गिनती आर्यों में होगी। आर्य-वर्ण में नहीं। वह दुष्ट नहीं बना, इतना तो अच्छा है। किन्तु उसने आर्यत्व के किसी विशेष मार्ग का भी वरण नहीं किया। इसलिए वह आर्य-वर्ण नहीं कहलाएगा। उसका वर्ण आर्य नहीं है। प्रवृत्ति आर्य अवश्य है। जिसकी प्रवृत्ति भी अनार्य हो वह दस्यु है। फिर प्रश्न होगा, कि शूद्र को चार वर्णों में क्यों गिना गया।

शूद्रवर्ण

शास्त्रों में शूद्र को भी एक वर्ण कहा गया है। वर्ण का अर्थ है चुना हुआ, सो ब्राह्मण ने भी अविद्या नाश तथा सत्यप्रकाश का मार्ग चुना है, वह उसका वर्ण हुआ। क्षत्रिय ने अन्याय के नाश तथा न्याय की रक्षा का मार्ग चुना है, वह उसका वर्ण हुआ। वैश्य ने दरिद्रता के नाश तथा सुभिक्ष के विस्तार का मार्ग पकड़ा है, यह उसका वर्ण हुआ। परन्तु शूद्र को वर्ण क्यों कहा गया उसने क्या चुनाव किया। उसका उत्तर मनु ने इस प्रकार दिया है:—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

अर्थात्, परमात्मा ने शूद्र का एक ही कर्म निश्चय किया है, कि वह ईर्ष्या न करे, किन्तु इन्हीं वर्णों की शुश्रूषा करे, सो यही शूद्र का चुनाव है। वह किसी हरामखोर, असुर अथवा प्रजा पीड़क की दी हुई धन सम्पत्ति को लात मार कर इन वर्णों की ही सेवा करेगा। यह असुरों की सम्पत्ति को लात मार परहित का व्रत धारण करने वालों की सेवा चुनाव ही, शूद्र का चुनाव है इसलिए शूद्र-वर्ण कहलाता है।

अब प्रश्न उठता है, कि वह इस प्रकार का चुनाव क्यों करता है? इसका उत्तर शुश्रूषा शब्द में है। वह हर प्रकार की उन्नति का अवसर आलस्य, प्रमाद अथवा अशक्ति के कारण किसी वर्ण की योग्यता नहीं प्राप्त कर सका, तो भी वह दूसरों के श्रमपूर्वक प्राप्त किए हुए उत्कर्ष को देख कर असूया से जलता नहीं, हाँ यदि उसे दुःख है तो अपनी मूर्खता पर। इसलिए वह शूद्र है परन्तु निराशावादी नहीं, उसका हृदय उत्साह से भरा है। वह यदि ब्राह्मण वृत्ति है, तो ज्ञान चर्चा सुनना चाहता है। क्षात्र वृत्ति है, तो वीर रस की चर्चा सुनना चाहता है। वैश्य वृत्ति है, तो दान की चर्चा सुनना चाहता है। यह शुश्रूषा, आत्मा को ऊँचा उठाने वाली चर्चा सुनने की इच्छा ही, उसके जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण है। यही उसे स्वार्थियों की ऐश्वर्य भरी सेवा ग्रहण न करके, परोपकारियों की प्रेम भरी सेवा का जीवन चुनने की शक्ति देता है, इसी चुनाव के कारण वह शूद्रवर्ण कहलाता है।

शोचति आत्मानं स शूद्रः

इस प्रकार यह तीन आयु देखने से पता लग गया कि छोटी आयु में वरण करने का प्रश्न भी ऋषियों के गम्भीर अभिप्राय को न समझने से ही उत्पन्न होता है।

इस प्रकार, हमने कितने अंश में ब्रह्मचारी तुल्य हैं यह भी बता दिया, और कहाँ भेद है वह भी बता दिया। इसका सार इस प्रकार है—

(१) खान पान, आसन आदि में सब तुल्य हैं। यहाँ तुल्य शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। तुल्य का अर्थ बराबर नहीं, किन्तु तुलामित है, अर्थात्। तोलकर जिसे जितना उचित हो दिया जाय। तुल्य का अर्थ यह कदापि नहीं कि सबको पाँच रोटी दे दी जावें। जिसे सात की भूख हो, वह

भूखा रहे, और जिसे तीन की भूख हो, उसके पेट से बाँध दी जावें। हाँ, जितनी आवश्यकता है, उतना नपा हुआ मिले। उससे अधिक न मिले। यह तुल्य शब्द की विशेषता

(२) अपनी इच्छानुसार वर्ण चुनने का अधिकार सबका तुल्य है।

(३) वर्ण चुनने के पश्चात् खान पानादि तुल्य रहेंगे। किन्तु वर्णानुकूल विद्याध्ययन आदि में भेद रहेगा।

फल

अब इस प्रकार दीक्षापूर्वक विद्याध्ययन का लाभ क्या होगा, यह बतलाना चाहते हैं। राष्ट्र को इससे जो लाभ होगा, वह तो स्पष्ट ही है। बालकपन से दीक्षा-पूर्वक जीवन का लक्ष्य सामने रख कर तैयारी करने से शिक्षक, रक्षक, और पोषक अच्छे तैयार होंगे। यह तो स्वयं सिद्ध है। किन्तु हमें यह दिखाना है कि बालक को क्या लाभ होगा? बालक को यह लाभ होगा, कि वह सच्चे अर्थों में ब्रह्मचारी बनेगा।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए हमें ब्रह्मचारी शब्द के अर्थ पर विचार करना होगा। इस शब्द में दो भाग हैं। एक ब्रह्म, दूसरा चारी। "ब्रह्म" का अर्थ है विद्या अथवा परमात्मा। "चर्" का अर्थ है विचरना वा खाना (चर गति भक्षणयोः)। अतः ब्रह्मचारी का अर्थ हुआ, "परमात्मा अथवा विद्या में विचरने वाला।" अथवा "परमात्मा या विद्या को खाने वाला।" इन दोनों ही अर्थों का सौन्दर्य हमें आगे दिखाना है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय-निग्रह, विशेष कर उपस्थेन्द्रिय का निग्रह, प्रसिद्ध है। किन्तु व्याकरण से हमने जो दो अर्थ ऊपर दिखाए हैं उनमें से तो किसी का भी अर्थ इन्द्रिय-निग्रह नहीं होता। तब क्या यह समझें, कि इस शब्द का अर्थ इन्द्रिय-निग्रह करने वालों ने भूल की? नहीं. ऐसा नहीं समझा जा सकता। इस अर्थ में व्यास मुनि तक प्रमाण हैं। (‡ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। योगदर्शन २।३०) फिर भला इस शास्त्रानुमोदित, तथा लोकप्रसिद्ध अर्थ को कैसे छोड़ें? दूसरी ओर व्याकरण को भी नहीं छोड़ा जा सकता। अब क्या करें? पाणिनि और व्यास दोनों में से किसे छोड़ें? परन्तु विचारना चाहिए, कि दोनों में से किसी एक को छोड़ें ही क्यों? दोनों में कोई विरोध हो तो एक को छोड़ दें। परन्तु यदि हम देखें कि दोनों

‡गुप्त इन्द्रिय, उपस्थ, के संयम का नाम ब्रह्मचर्य है।

में विरोध हो नहीं, तो फिर दोनों में से एक को चुनने का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुत:, बात यही है। इन दोनों में विरोध कोई नहीं। यदि राम के खेत में जल जा रहा हो, तो हम यदि कहें, कि जल राम के खेत में विचर रहा है, अथवा कहें, कि राम के खेत के बाहर नहीं विचर रहा, इसमें विरोध क्या है ? जल केदारचारी है और बहिश्चारी नहीं है। दोनों एक ही बात तो हैं। क्या राम की क्यारी में जल विचरे तो वह उस क्यारी में निगृहित नहीं हुआ ? क्या जल-निग्रह और केदार-सेचन एक ही बात नहीं। जल रोकना और क्यारी सींचने में क्या भेद है ? क्यारी में जल रुकता है, तब ही तो उसको सींचता है। इसी प्रकार मन ब्रह्म में विचरेगा तो विषयों में कैसे विचरेगा ? इसलिए ब्रह्मचारी बनना और विषयचारी न बनना एक ही बात तो है। किन्तु ब्रह्मचारी शब्द में विशेषता यह है कि उसमें मन को रोकने का साधन भी साथ ही बता दिया गया है।

यदि मन को विषयों से रोकना है तो वह मनन करता रहे ? क्यों करता रहे ? ब्रह्म बड़ा स्वादु पदार्थ है। उसे खाने के लिए करता रहे। क्या उपनिषद् में नहीं कहा "‡अहमन्नम् अहमन्नाद:" (तैति० उप० ३।१०) आखिर, कहिये तो सही, इष्ट मित्र,परिवार,सबके छोड़े हुए भक्त लोग क्या खाकर जीते हैं ? अङ्ग-अङ्ग कट रहे हों, रोम-रोम फोड़ा बना हो, नीचे आग जल रही हो, ऊपर जल्लाद की तलवार चमक रही हो, उस समय भी जो भक्तों के चेहरे पर कान्ति चमकती है और पहिले की अपेक्षा भी अधिक वेग से चमकती है वह इस स्थूल अन्न से तो पैदा नहीं होती। यह स्थूल अन्न तो सभी खाते हैं। बस भक्त तो "उसे" ही खाते हैं ? कैसे खाते हैं ? कल पाठशाला में गुरु जी झुँझला कर नटखट लड़कों से कह रहे थे, तुमने तो मेरा सिर खा लिया। एक घुटे हुए नटखट ने कहा कि गुरु जी ! आपके सिर में न कोई दाँत लगने का चिह्न, न चाकू लगने का, उतना का उतना ही दीखता है, फिर हमने खा कैसे लिया ? पर गुरु जी तो कहते हैं खा लिया। वह क्या झूठ कहते हैं ? इसी प्रकार भगवान् कहते हैं—"मैं अन्न हूँ, भक्त मुझे खाकर जीते हैं।" यह पदार्थ है भी, इतना रस-भरा, कि "रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।" (गीता) २।५९)*

---

‡मैं अन्न भी हूँ और अन्न को खाने वाला भी हूँ।

*परब्रह्म को देखकर भक्त का चित्त विषयों के रस से हट जाता है।

परन्तु इस रस को खाएं कैसे ? बस, यही कार्य वर्ण-व्यवस्था का है। संसार में परब्रह्म की सत्ता का अनुभव साधारण मनुष्यों को दुःख में होता है। बात भी ठीक है। परिश्रम से शरीर में क्षीणता आती है, तब ही तो भूख लगती है। भूख से ही भोजन स्वादु दीखता है। फिर यदि भोजन हो भी स्वादु तब तो कहना ही क्या। इस ब्रह्म-रूपी भोजन के स्वादु होने में तो कुछ भी संदेह नहीं जिसका लेप मृत्यु तक को स्वादु बना दे। जिसकी छाया से मृत्यु भी मनोमोहनी बन जाय—"यस्यच्छाया ऽमृतम्" (यजुः २५।१३)—उससे बढ़कर स्वादु, उससे बढ़कर रस-भरा कौन है ? परन्तु भूख बिना यह दिव्य पदार्थ भी स्वादु नहीं लगता। भूख लगती है क्षीणता पर। इसी प्रकार ब्रह्म की भूख भी क्षीणता में, अपनी दुर्बलता के अनुभव में ही लगती है। वह दुर्बलता दुःख में स्पष्ट होती है। दुःख का अर्थ है वह अवस्था जिसको दूर करना अभिमत हो, किन्तु दुष्कर हो। फिर भला इस रहस्य को जान कर भी हम इससे लाभ न उठावें तो हमसे बढ़कर अभागा कौन है ? जिस दुष्प्रती-कार्य अवस्था से घिरने पर हमें अपने से बड़ी शक्ति का स्मरण हो आता हो, उस अवस्था को हम सदा ही अपने सामने क्यों न रक्खें ? ताकि हमारी रसना सदा ही उस महाशक्ति की रसधारा में डूबी रहे। बस, इस दुःख को निमन्त्रण देने का यही उपाय है, कि पराये दुःख को अपना लेना।

बस, पराई अविद्या को अपनी अविद्या जानकर, उसके दूर करने की दीक्षा का नाम ब्राह्मणत्व की दीक्षा है। पराये अन्याय को अपने पर अन्याय जान कर, उसे दूर करने की दीक्षा का नाम क्षत्रियत्व की दीक्षा है। पराये अभाव को अपना अभाव जानकर, उसे दूर करने की दीक्षा का नाम वैश्यत्व की दीक्षा है।

दीक्षा का फल है एकाग्रता। एकाग्रता का फल है ब्रह्मबुभुक्षा की प्रबलता। इस परब्रह्म की भोजनशाला में एक आनन्द की बात यह है, कि यहाँ भोजन तो सदा एक रस तैयार मिलता है। भूख तैयार करने में ही देरी होती है। भूख तैयार होते ही भोजन अन्दर जाने लगता है। फिर तो खाने वाले को रस अधिकाधिक आने लगता है और विषयचारी से हटकर वह ब्रह्मचारी होता जाता है। अन्त को वह अवस्था आ जाती है, जब वह प्यारे-से-प्यारे विषय को भी, यदि वह ब्रह्म में लिपटा न हो तो, फेंक देता है और कड़वे से कड़वे पदार्थ को भी यदि उस पर ब्रह्म की चाशनी चढ़ी हो, अर्थात्, उसके

द्वारा प्रभु-सेवा होती हो, उसकी प्रजा का दुःख दूर होता हो, तो अमृत समझ कर खा लेता है। ऐसे मनुष्य को कहते हैं ब्रह्मचारी। किन्तु इसके लिए एकाग्रता आवश्यक है। एकाग्रता तब ही होगी जब उसके आगे ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व; वैश्यत्व तीनों नहीं, इनमें से कोई एक, केवल एक हो। यही वर्ण-व्यवस्था का ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध है।

जिस दिन वर्ण-धर्म के चमचे द्वारा ब्रह्म को खाकर बालक ब्रह्मचारी बनता है फिर उसकी मस्ती का क्या पूछना ! फिर तो वह कह उठता है—

हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ऋक्० १०।११९।९

अर्थात् "आज तो बस जी चाहता है, कि धरती को उठाकर यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ रख दूँ। जानते हो क्यों ? इसलिए कि आज मैंने सोम-रस (रेतो वै सोमः, सोम=वीर्य) पान कर लिया है।"

भला जिस वर्ण-व्यवस्था से समाज को तो विद्या, न्याय और धन मिले तथा व्यक्ति को मस्ती का भण्डार ब्रह्म खाने को मिले, उससे बढ़कर आनन्द-मय व्यवस्था और कौन-सी हो सकती है ?

२. गृहस्थ आश्रम

व्यक्ति का यह लाभ ब्रह्मचर्याश्रम तक ही परिमित नहीं रहता। वर्ण-व्यवस्था से मनुष्य के गृहस्थ जीवन पर क्या मधुर प्रभाव होता है, यह भी देखना चाहिए।

कोई लाख बातें घड़े, लाख बीसवीं सदी और नये जमाने की दुहाई दे, किन्तु इस बात का कभी प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता, कि प्रेम की परख ध्रुवता में है। जिस प्रकार एक मकान को हजारों बरस तक आँधी, पानी, भूकम्प आदि की अवहेलना करते हुए खड़े रहना स्वयं एक सुन्दरता है, यही बात प्रेम की भी है।

उत्क्रान्ति

दम्पति के प्रेम में आरम्भिक कारण प्रायः रूप का आकर्षण होता है। किन्तु यह आकर्षण तो प्रेम के स्रोत का ढकना उठाने मात्र में सहायक होता है। रूप का आकर्षण प्रेम से इतना ही भिन्न है जितना खटाई खाँड से। वह खाँड के शर्बत में मिलकर एक सरसता अवश्य उत्पन्न कर सकती है, परन्तु

खटाई खाकर कोई जी नहीं सकता। यह आर्थिक सहायता, शारीरिक सेवा, रूप का आकर्षण आदि सबसे ऊपर उठ जाने वाला उत्क्रान्त (Transcendental) प्रेम ही दम्पति के जीवन में वास्तविक सुख उत्पन्न करता है। यह एक निर्विवाद सत्य है, स्वयं सिद्ध है। जो इस आधारभूत सिद्धान्त को नहीं मानते उनके प्रति हमें कुछ नहीं कहना। वह हमारे ग्रन्थ को निःसंकोच रद्दी की टोकरी में फेंक दें। किन्तु यदि इस मौलिक सिद्धान्त को ठीक मान लिया जाय, तो फिर वर्ण-व्यवस्था को गृहस्थाश्रम का आधार मानना ही पड़ेगा। अपने इस कथन की सत्यता को जाँचने के लिए हम इस समय तक प्रचलित विवाह प्रणालियों पर विचार करते हैं।

पहली विवाह-प्रणाली

सबसे पहिली विवाह-प्रणाली जो हमारे सामने आती है, वह प्रचलित हिन्दू विवाह-प्रणाली है। हिन्दू विवाह प्रतिज्ञा की भित्ति पर खड़ा है। वह प्रतिज्ञा अटल है। इसलिए हिन्दू विवाह अटल है। हमने थोड़ी देर पहले मकान का दृष्टान्त दिया था। मकान का हजारों वर्ष खड़ा रहना निःसन्देह एक गुण है। किन्तु यह सब कुछ नहीं। मकान हवादार भी तो होना चाहिए। यदि खिड़कियों से रहित मकान एक सहस्र वर्ष खड़ा रहा तो उसने एक सहस्र वर्ष अपने आश्रितों का दम घोटा। यह कौन-सी प्रशंसा की बात है ? इसलिए दूसरे विचारक कहते हैं कि दम्पति को परस्पर चुनाव का अधिकार होना चाहिए। परस्पर के चुनाव से जो स्वतन्त्रता प्राप्त होती है वह खुली वायु के झोंके के समान जीवन देने वाली है।

दूसरी विवाह-प्रणाली

दूसरी विवाह-प्रणाली योरोपियन विवाह-प्रणाली है। इसमें सबसे बड़ा गुण स्वतन्त्रता है। पहिले चुनाव की स्वतन्त्रता आई। फिर जब यह बात सामने आकर खड़ी हुई, कि चुनाव में भूल भी हो सकती है तो बन्धन के तोड़ने की स्वतन्त्रता का प्रश्न भी सामने आकर खड़ा हुआ। स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता तक पहुंची। ध्रुवता का निशान मिटाने की नौबत आई। गृहस्थ आश्रम न रहा किन्तु एक फटा तम्बू हो गया, जो जब चाहे उखड़ जाय और सदा चूता रहे। अन्त को समझ में आने लगा, कि मकान तो विश्राम के लिए है। यदि खुली हवा के पागलपन में विश्राम ही न मिला तो मकान बनाने

का आडम्बर ही क्यों करना। फिर खुले आकाश के नीचे पूर्ण स्वतन्त्रता में क्यों न विचरें।

परन्तु स्वतन्त्रता और ध्रुवता तो साधन हैं, साध्य नहीं। मार्ग हैं, ध्येय नहीं। ध्येय तो दम्पति का सुख तथा राष्ट्र की सेवा है। दम्पति का सुख परस्पर सेवा द्वारा और राष्ट्र की सेवा सन्तति द्वारा, दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। जो दम्पति राष्ट्र की सेवा में नहीं लगे उन्हें सुख नहीं हो सकता, और जो सुखी नहीं वह उत्तम सन्तान द्वारा राष्ट्र की सेवा नहीं कर सकते।

समन्वयः वैदिक-विवाह

इस ध्रुवता और स्वतन्त्रता के सुखकारी समन्वय का नाम वैदिक विवाह है। वैदिक विवाह में हिन्दू विवाह का प्रतिज्ञा का बन्धन नहीं है, यह बात नहीं है। उसमें बन्धन तो सब ही हैं। प्रतिज्ञा का बन्धन, स्वतन्त्र चुनाव द्वारा उत्पन्न हुए प्रेम का बन्धन, लोकलाज का बन्धन, यह सब ही बन्धन उसमें उपस्थित हैं। सच तो यह है, कि वैदिक विवाह की उत्कृष्टता बन्धनों के अभाव में नहीं, किन्तु अधिकता में है। उसमें एक बन्धन ऐसा है, जो प्रतिज्ञा के बन्धन को बन्धन नहीं पता लगने देता। आखिर यह संसार खड़ा किसके सिर पर है ? बँधन ही तो संसार का आधार है। जब तक परमाणु-से-परमाणु बँधे हैं संसार है। जिस दिन यह बंधन टूटा, प्रलय आई। एंजिन चल रहा है। पुरजे के साथ पुरजा जकड़ा हुआ है, तब तक गाड़ी चल रही है, गाड़ी एंजिन के साथ बँधी है। दूसरी गाड़ी पहिली गाड़ी के पीछे बँधी है। तब तक ट्रेन है। बँधन टूटे, और सारा कारोबार नष्ट। सैनिक सेनापति की आज्ञा में बँधे खड़े हैं। जब तक यह बन्धन हैं, राष्ट्र खड़ा है ; बन्धन टूटा, कि राष्ट्र गया। परन्तु बन्धन ढीला नहीं होना चाहिए। जहां एक कील ढीली हुई, कि खड़खड़ मची। यह तब ही हो सकता है कि जब बन्धन में बँधने वाले एक-दूसरे के लिए बिलकुल अनुशायी हों। अच्छा कारीगर वही है, जिसके यन्त्र में न कील आवाज दें, न उभरे हुए नजर आवें, उलटे पालिश में छिपे हुए हों। लकड़ी का काम करने वालों से पूछिए "डवटेल" जोड़ों (Dovetail joints) की इतनी प्रशंसा क्यों है। बस, वैदिक विवाह की यही सुन्दरता है।

किन्तु, यह सुन्दरता उत्पन्न कैसे की गई है, पहिले यह देखना होगा। वैदिक विवाह में यह सुन्दरता सवर्ण विवाह अथवा समान-व्रत-विवाह द्वारा उत्पन्न की गई है। वैदिक विवाह में प्रतिज्ञा है, परस्पर अनुराग है, रति है,

सब-कुछ है। परन्तु इन सबसे पहिले व्रत हैं। वैदिक विवाह व्रतों की समानता की अटल चट्टान पर खड़ा है। रूप का अनुराग रूप के साथ नष्ट हो जाता है। आर्थिक सुभीते का विवाह आर्थिक हानि के साथ टूट जाता है। प्रतिज्ञा थोड़े से भी मनोमालिन्य से कैदी की बेड़ियों के समान अखरने लगती है। किन्तु व्रतों की समानता है जो कभी नष्ट नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, राम और सीता के प्रेम में परस्पर अनुराग भी था, आदर भी था, रूप की प्रीति भी थी, प्रतिज्ञा का बन्धन भी था। सीता राम को देवता समझकर पूजती थी। राम सीता को हृदय में रखकर आराधना करते थे। परन्तु इस विवाह का मूलाधार इन सबसे अलग था, वह था "क्षत्रिय-धर्म"। राम अन्याय के विध्वंस के व्रत में दीक्षित थे। यही सीता का व्रत था। धनुर्भङ्ग तो केवल इस व्रत के लिए योग्यता को परखने का साधन मात्र था। परन्तु इस विवाह का आधार था, क्षत्रिय धर्म। इसीलिए सीता राम की न तो अनुराग पत्नी थी, न रतिपत्नी थी, न सेवा-पत्नी थी, न प्रतिज्ञा पत्नी थी, वह थी राम की "धर्मपत्नी"। धर्मपत्नी होने के पश्चात् वह सब कुछ थी। परन्तु सबसे पहिले धर्मपत्नी थी। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि विवाह से पहिले वर और कन्या दोनों किसी "धर्म" में दीक्षित हों और वह दीक्षा दोनों की समान हो। यही वैदिक विवाह का आधार है इसलिए कहा है—"‡पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्॥" (अथर्व० १४। १। ४२) परन्तु जिसका व्रत ही न हो उसकी पत्नी अनुव्रता कैसे हो? इसीलिए हरएक पुरुष को विवाह से पहिले व्रती होना आवश्यक है। बस, इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि वर्णव्यवस्था के बिना गृहस्थाश्रम का सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता। यह व्रत ही है जो, मनुष्यों को रूप तथा आर्थिक सुभीते से ऊपर उठा सकता है, कालेकलूटे, बेढङ्गम, यथार्थनामा अष्टावक्र में उसकी पत्नी को विद्या व्रत के सिवाय और क्या मिल सकता है? किन्तु विद्या-व्यसन में, विद्या के अनुराग में, रूप की बिलकुल उपेक्षा करने वाली कोई सच्ची ब्राह्मणी ही तो ऐसे रूप-हीन तथा धन-हीन को इष्ट देवता बना सकती है। वीरता के व्रत में दीक्षिता राजपूत रमणी क्या पति का रूप देखती थी? वहां तो यही देखा

‡ हे पत्नी! तू पति के अनुकूल व्रत वाली होकर अमृत सुख प्राप्त करने के लिए पति से बंध जा!

जाता था, कि तलवार का धनी, बात का धनी, आन का धनी कौन है। किंतु आन के धनी की उपासना वही तो कर सकती है जो स्वयं आन को जान से बढ़कर जानती है। उत्तम वंश्य कन्या पति के रूप को नहीं देखती थी। वह भी यह देखती थी, कि वह दान का धनी है वा नहीं। किन्तु दान के धनी की पूजा वही तो करेगी, जो स्वयं दान को धन समझें। बस, यह ज्ञान, आन और दान की पूजा का व्रत पुरुषों को पत्नीव्रत और स्त्रियों को पतिव्रता बनाता था। आज लोगों ने व्रतों को तो छोड़ दिया और पतिव्रत-धर्म पर गला फाड़ कर संसार के कान खाते हैं। याद रक्खो, यह व्रत-पूजा ही उत्क्रान्त प्रेम (Transcendental Love) उत्पन्न कर सकती है। इसलिए यदि संसार में सच्चे गृहस्थाश्रम के सुख को लाना चाहते हो, तो वर्णव्यवस्था का उद्धार करो। इसके बिना कभी सुख नहीं होगा।

यह जो स्त्री पुरुषों में प्रति दिन अधिकारों का झगड़ा सुनने में आता है इसका भी अन्त वर्णव्यवस्था के उद्धार से होगा। वर्णाश्रम-व्यवस्था इस बात को स्वीकार करती है कि पति का स्थान पत्नी से बड़ा है, किन्तु यह स्वीकार नहीं करती, कि पुरुष का स्थान स्त्री से बड़ा है।

हर एक पुरुष हर एक स्त्री से अथवा हर एक स्त्री हर एक पुरुष से, पुरुष वा स्त्री होने मात्र से बड़े हैं, यह कल्पना मिथ्या हैं। हाँ किसी स्त्री का पति होने योग्य पुरुष वही है जो पुरुष होने के कारण नहीं, किन्तु अपनी व्यक्तिगत योग्यता से उससे बड़ा हो। पति होने के कारण पत्नी का देवता न हो, किन्तु देवता होने के कारण पति बना हो।

इस बात में सम्भव है, बहुत लोग आपत्ति उठावें। किन्तु विचार से यह बात माननी ही पड़ेगी। मोटी बात ले लीजिए। संसार में कोई कन्या अपने से दुर्बल शरीर वाला पति नहीं चाहती। असाधारण अवस्थाओं की बात जाने दीजिए। किन्तु साधारण नियम यही है। संसार की किसी कन्या से पूछ लीजिए, कि क्या वह ऐसे पुरुष के बच्चों की माता बनने को तैयार है, जो उसका थप्पड़ खाकर गिर पड़े। मुझे विश्वास नहीं कि लाख में से एक कन्या भी ऐसा खिलौना माँगे। फिर जो शरीर में अधिक बलवान् है, और गुणों में हीन है, वह हरएक मतभेद में शारीरिक बल के प्रयोग की ओर झुकेगा, उसका फल कलह और अशान्ति ही होंगे। इसलिए पति जहाँ शरीर में

अधिक बलवान् होना चाहिए वहाँ गुणों में भी बड़ा होना चाहिए। सच तो यह है, कि गुणों में बड़ा कदाचित् शरीर में दुर्बल होने पर भी पूजा का पात्र हो सकता है। परन्तु शरीर में बड़ा, किन्तु गुणों में हीन, कभी पूजा का पात्र नहीं हो सकता। गुणों की बात क्यों कहें, वास्तव में तो पति उस एक गुण में विशेषरूप से बड़ा होना चाहिए, जिस गुण की पत्नी उपासना करती है। ब्राह्मण-कन्या का पति और किसी गुण में बड़ा हो या न हो, विद्या में तथा विद्या-व्यसन में तो बड़ा अवश्य होना चाहिए। क्षत्रिय-स्वभाव की कन्या का पति आन का धनी तो होना ही चाहिए। यदि वह शूरता में हीन है, तो विद्यादि गुणों का भण्डार होने पर भी पूजा का पात्र नहीं हो सकता। वैश्य-स्वभाव की कन्या का पति दान का धनी तो अवश्य होना ही चाहिए। वैश्य-कन्या कंजूस की पूजा नहीं कर सकती। आजकल के वैश्य कहलाने वाले लोग इस पंक्ति को पढ़कर कदाचित् चौंक उठें। परन्तु उनमें जो सच्चे वैश्य हैं वह नहीं चौंकेंगे। कंजूस को वैश्य नहीं कहते, उसको तो असुर कहते हैं।

इसलिए, इस झगड़े को मिटाने के लिए आवश्यक है कि वर्णव्यवस्था का उद्धार हो। आज एक कन्या अपने पति से पूछती है, मैं तेरी सेवा क्यों करूँ? तुझमें क्या विशेषता है? सवर्ण विवाह में वह विशेषता पहिले देखती है, पति पीछे बनाती है। इसलिए झगड़ा उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु इस मर्यादा को ठीक करने के लिए पहिले पुरुषों को कठोर तप द्वारा देवता बनना पड़ेगा। नहीं तो, वह किसी देवी के आराध्य देव नहीं बन सकते। भला, जो वर्ण-व्यवस्था साधारण मनुष्य को असाधारण बनने के लिए ऐसे बल से प्रेरणा करती है, व्रतहीनों को व्रतधारण करने के लिए बाधित करती है, उससे बढ़कर मनुष्य-जाति के कायाकल्प का उपाय और क्या हो सकता है?

३. वानप्रस्थ आश्रम

इस प्रकार प्रथम दो आश्रमों का वर्णन करके हम तीसरे आश्रम की ओर आते हैं। जिस प्रकार वर्तमान युग के पति पत्नी के झगड़े को दूर करने का उपाय गृहस्थाश्रम के प्रकरण में वर्णन किया गया है, इसी प्रकार बच्चों की शिक्षा के विषय में संसार के निर्धनों और धनपतियों में जो युगान्तरकारी विप्लव उठा हुआ है, उसका उपाय वानप्रस्थाश्रम है।

एक अध्यापक अधिक-से-अधिक बीस बच्चे बड़ी कठिनता से सम्भाल सकता है। वास्तव में तो दस बच्चे ही भली प्रकार संभाले जा सकते हैं। यदि इस नियम को मान लें, तो तीस करोड़ प्रजा के दो करोड़ बच्चों के लिए उत्तम शिक्षा देनी हो, बीस लाख नहीं तो कम-से-कम दस लाख अध्यापक चाहिए। इसी नियमानुकूल संसार की दो अरब दस करोड़ जन-संख्या के चौदह करोड़ विद्यार्थियों के लिए उत्तम शिक्षा देनी हो, तो एक करोड़ चालीस लाख अध्यापक चाहिएं, नहीं तो, कम-से-कम सत्तर लाख तो अवश्य ही चाहिएँ। इसके अतिरिक्त बड़ी आयु के लोगों में भी कम-से-कम निरक्षरता तो दूर होनी चाहिए।

अब प्रश्न उठता है, इतनी बड़ी संख्या में अध्यापक कहाँ से प्राप्त हों? इसके लिए संसार की युद्धलीला को देखिए। जिन देशों को युद्ध के लिए सिपाहियों की आवश्यकता होती है वे क्या करते हैं? वे दण्ड प्रयोग करते हैं। अमुक आयु से अमुक आयु तक के हर एक नवयुवक को सिपाही बनना होगा, नहीं तो दण्डनीय होगा। इस दण्ड प्रयोग से प्रयोजित हर एक नवयुवक सिपाही बनता है। बस, संकट के समय इस प्रयोजना (Conscription) का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु इस प्रयोजना का आश्रय ज्ञान के विस्तार के लिए भी किया जा सकता है। यह किसी को नहीं सूझा। यह वेदज्ञ ऋषियों की ही सूझ थी कि उन्होंने अज्ञान-रूप शत्रु के साथ लड़ने के लिए इस प्रयोजना का आश्रय लिया।

किन्तु इस प्रयोजना की आयु भिन्न है आज्ञानुसार अथवा वृत्रासुर के साथ लड़ने के लिए दीक्षित ब्राह्मण सेना तो इस युद्ध की स्थिर सेना (Standing army) है, किन्तु वानप्रस्थाश्रम में आकर तो क्षत्रियों तथा वैश्यों को भी ब्राह्मण बनना होगा। यह युद्ध की प्रयोजित सेना (Conscript army) है। शस्त्रयुद्ध में प्रयोजना की आयु प्रायः १८ से २१ तक है किन्तु इस युद्ध में ५० वर्ष से ऊपर के लोग प्रयोजित किए जाते हैं।

इसका परिणाम क्या होता है, इस पर ध्यान दीजिए। प्रथम तो नौजवानों तथा बूढ़ों का युद्ध बन्द हो जाता है। जहाँ आज चारों ओर नौजवान बूढ़ों की मौत मनाते हैं, वहाँ इस स्वयं स्वेच्छया परित्याग से उनका गौरव बढ़ता है, दुष्ट-से-दुष्ट पुत्र पिता की मृत्यु पर वियोग में एक बार रो उठता है। यह एक अनुभूत बात है। किन्तु कोई पिता यह दृश्य देखने नहीं आता।

यदि सब पिता वानप्रस्थ की इस वैदिक मर्यादा को ग्रहण कर लें तो वे अपने जीवन में एक अद्‌भुत दृश्य देख सकते हैं। वह अपनी आँखों से देखेंगे कि पुत्र आग्रह-पर-आग्रह करके उन्हें निमंत्रण देकर बुला रहे हैं।

यही नहीं। माता-पिता जो अपने पुत्रों को संसार की माया में न फँसने का बारम्बार उपदेश करते हैं वह इसीलिए सफल नहीं होता, कि जो स्वयं माया में फँसे हुए हैं उनका उपदेश क्या फल लावे। किन्तु जिस व्यवस्था में चक्रवर्ती राजा तक वानप्रस्थ की आयु आने पर स्वयं छत्र, चामर छोड़कर प्रजा की निष्काम सेवा में लग जावे, जो कल मुकुटधारी था, आज मुनि-वेशधारी होकर विद्या-दान के काम में लग जावे, वहाँ नवयुवक स्वयं सोचते हैं, कि जो पिता कल राज्य के स्वामी थे, वे आज स्वयं राज्य छोड़कर जिस की खोज में निकले हैं, वह चीज अवश्य राज्य की विभूति से भी बढ़कर होनी चाहिए। ऐसे माता-पिता जब बच्चों को निष्काम सेवा का उपदेश करते हैं, तो वह उपदेश अवश्य फल लाता है, और ऐसे पितर लोग, अनेक बार प्रार्थना करने पर, जब पुत्रों को दर्शन देते हैं, तो जो श्रद्धा पुत्रों के हृदय में उमड़ती है, वह अपनी उपमा नहीं रखती। इसी-लिए इस पितृ-पूजा का नाम श्रद्धा है।

यह वानप्रस्थ का मुनिवेश निरी कल्पना नहीं, भारतीय सभ्यता का सजीव अङ्ग है। देखिए, महाराज दिलीप के लिए कविवर कालिदास क्या कहते हैं—

‡अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे,
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवरतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये,
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्॥

रघु० ३।७,

खैर, यह तो हुई प्रसङ्गागत बात। इस प्रकरण में जो मुख्य बात है, वह

---

‡राजा दिलीप ने विषयों से निवृत्त होकर अपने पुत्र रघु को यथाविधि सिंहासन पर बैठाया और स्वयं अपनी रानी के साथ वानप्रस्थ में जाकर ऋषि वसिष्ठ के आश्रम के पेड़ों की छाया ग्रहण की। बूढ़े इक्ष्वाकुवंशी राजाओं का यही कुल धर्म है।

हैं शिक्षा की समस्या का सुलझना। देखिये, इस में कितने लाभ हैं। एक तो देश को इतनी बड़ी संख्या में अध्यापक मिल गए। दूसरे, अनुभवी अध्यापक मिल गये। तीसरे, उस आयु के अध्यापक मिल गए जिनमें बच्चों के प्रति वात्सल्य की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। चौथे, बिना मूल्य सेवा करने वाले अध्यापक मिल गए, जो केवल भिक्षा के अन्न-मात्र पर अथवा अपने पुत्रों की दी हुई 'स्वधा' पर पलते हैं।

इस प्रकार ब्राह्मणों के साथ मिलकर यही भारी अध्यापकों की संख्या अविद्या के साथ ऐसा घोर युद्ध करती थी, कि राज्य में एक भी मनुष्य विद्या हीन नहीं रहने दिया जाता था। विद्या-हीन ही नहीं, इस शिक्षा प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता आचार-हीनता का उच्छेद है। जब इतनी बड़ी संख्या में अध्यापक मिल जावें तो प्रत्येक बालक को गुरु का पूरा सत्सङ्ग प्राप्त होता है, और इस गुरु-शिष्य की अत्यन्त समीपता के कारण आचार पर पूरा ध्यान दिया जा सकता है। इस वैदिक शिक्षा का गुरु, केवल विचारों का परिवर्तन ही नहीं करता, किन्तु आचार का परिवर्तन भी करता है। इसलिए उसका नाम आचार्य है। इसलिए इसी शिक्षा-प्रणाली के आधार पर राजा कह सकता है—

‡न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य्यो न मद्यपः॥
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छन्दो० उप० ५।११।५)

इस प्रकार व्यापक शिक्षा के प्रश्न को वर्णाश्रम-व्यवस्था ने जिस सुन्दरता से सुलझाया है, वह अद्वितीय है। आवश्यकता है तो इसे कार्य रूप में परिणत करने की। फिर देखिए, संसार इसकी ओर दौड़ता है वा नहीं।

४. संन्यास आश्रम

आज से २० वर्ष पूर्व रूस से जो समाजवाद की लहर उठी थी, उससे प्रतीत होता था, कि शायद अब संसार में दूसरे कोई विचार रहेंगे ही नहीं। किन्तु बीस वर्ष में ही कितना परिवर्तन हो गया है। रूस की सीमा के साथ

---

‡न मेरे राज्य में कोई चोर है, न कंजूस, न शराबी, न अग्नि होत्र न करने वाला है, न अविद्वान् है, न व्यभिचारी है, व्यभिचारिणी स्त्री) तो हो ही कहाँ सकती है।

ही जर्मनी की सीमा मिली हुई है। जर्मनी को बिलकुल अनपढ़, पिछड़ा हुआ, दकियानूसी विचारों का अज्ञानी देश भी नहीं कहा जा सकता। विज्ञान के क्षेत्र में कौन सी शाखा है जिसमें जर्मनी ने बड़े-बड़े दिग्गज नहीं पैदा किये ? फिर, मान भी लीजिए कि इस अंश में जर्मनी और उसका साथी इटली पिछड़े हुए हैं, तो भी ऐसे महाशक्ति-शाली देश विश्व-प्रेम में पवित्र सन्देश से क्यों दूर भागें ? और मार्क्स के विचारों को समूल नष्ट करने का बीड़ा उन्होंने क्यों उठाया ? इन प्रश्नों की मीमांसा तो घोर से घोर समाजवादी को भी करनी ही होगी। क्या जर्मनी, जापान, इटली जैसे देशों को साथ लिए बिना मार्क्स और लेनिन का विश्व को एक सूत्र में बांधने का स्वप्न सफल हो सकता है ? हिटलर और मुसोलिनी को, तथा उनके साथ इटली और जर्मनी की प्रजा को मूर्ख, विवेकहीन, दब्बू आदि गालियां देने मात्र से तो काम न चलेगा। इस प्रश्न की गहराई में घुस कर मूल कारण को जानकर उसको दूर करने से ही विश्व-प्रेम की गाड़ी आगे चल सकेगी। यदि रूसवासियों को यह विश्वास हो कि शस्त्र-बल से इन तीनों देशों (जर्मनी, जापान, इटली,) का विध्वंस करके समाजवाद का प्रचार कर दिया जाएगा, तो यह तो दुराशा-मात्र है। प्रचार के मार्ग में सबसे दुर्बल उपाय शस्त्र है। प्रचार तो प्रचार से ही होता है। प्रचार के मार्ग में दण्डबल का प्रयोग तो लोगों को सच्ची बात के विरुद्ध भी भड़का देता है। हां, जिस बात की बुराई को कोई मनुष्य स्वीकार कर ले, उससे उसको बचाने में, दण्ड-बल सहायक हो सकता है। यदि कोई मनुष्य शराब पीना बुरा समझता हो उसे बल-पूर्वक शराब पीने से हटाना सफल हो सकता है। किन्तु जो शराब पीने को धर्म जानता है उसके विरुद्ध बलप्रयोग तो उलटा उसे और दुराग्रही बनाता है। इसलिए यदि समाजवादी शान्ति-पूर्वक हिटलर और मुसोलिनी के विकास का अध्ययन करें, तो उन्हें अपनी भूल का पता लग जायगा।

इस विकास का अध्ययन करने के लिए, हमें लघुतर स्वार्थ और विशाल-तर स्वार्थ के समन्वय का अध्ययन करना पड़ेगा। शास्त्रकारों ने कहा है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥

अर्थात्, "कुटुम्ब की भलाई के लिए एक मनुष्य को, ग्राम की भलाई के

लिए एक कुटुम्ब को, और देश की भलाई के लिए ग्राम को छोड़ देना चाहिए।" इससे यह स्पष्ट है, कि छोटे स्वार्थ और बड़े स्वार्थ, छोटे प्रेम और बड़े प्रेम में संघर्ष अनेक बार उपस्थित होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं, कि इनमें सदा विरोध ही हो। यह एक दूसरे के सहायक भी हो सकते हैं। यदि हम उस सूत्र को जान लें, जिससे कि छोटे और बड़े प्रेम का समन्वय होता है, तो हमें मार्क्स और हिटलर के विरोध का कारण और समन्वय का उपाय भी समझ में आ जायगा। छोटे और बड़े स्वार्थ में यद्यपि विरोध आवश्यक नहीं, किन्तु विरोध की भारी सम्भावना सदा बनी रहती है। छोटा स्वार्थ स्वाभाविक है। बड़े स्वार्थ को सीखने के लिए अनेक साधना करनी पड़ती है। माता बचपन से बालक को पालती है, प्यार करती है उसके लिए अनेक प्रकार के त्याग करती है। माता के साथ प्रेम स्वाभाविक है। किन्तु माता यदि सारे ग्राम के सर्वनाश पर उतारू हो तो स्वाभाविक मातृ-प्रेम को दबाकर ग्राम के हित के लिए माता को दण्ड देने में जो हृदय की कठोरता अपेक्षित है वह साधना माँगती है। इसीलिए प्रायः छोटे और बड़े स्वार्थ में विरोध रहता है, और छोटे स्वार्थ का पलड़ा भारी रहता है, जब तक कि विशेष साधना द्वारा उसे उलटा न दिया जाय। किन्तु इन दो, आपाततः, विरोधी प्रेमों का समन्वय असम्भव नहीं।

परन्तु प्रश्न उठता है, समन्वय किस प्रकार हो? समन्वय का सूत्र है— "लघुतर प्रेम को बृहत्तर प्रेम का आधार बनाना।" उदाहरण के लिए यदि किसी ग्राम के निवासी अपने बच्चों को यह शिक्षा दें, कि बच्चो! ग्राम की सेवा ही हमारी सच्ची सेवा है, जो ग्राम का अहित करता है, वह हमारा अहित करता है, और जो हमारा अहित करके भी ग्राम का हित करता है, वही हमारा सच्चा हितकारी है। यदि तुम हमारे सच्चे सपूत हो, तो ग्राम के हित में सबसे आगे बढ़ो। अब कुटुम्ब हित ही ग्राम हित का आधार बन गया। अब कुटुम्ब का हित इसलिए किया जाता है, कि उसमें ग्राम का हित है। और ग्राम के हित में ही कुटुम्ब की बड़ाई है। यह ग्राम-हित और कुटुम्ब हित का समन्वय हो गया।

इन दो प्रेमों का होना आवश्यक नहीं। हो सकता है, कि एक व्यक्ति के कुटुम्ब हो ही नहीं, वह सारे ग्राम को ही कुटुम्ब समझता हो। परन्तु प्रायः

देखा जाता है, कि जिनका कुटुम्ब नहीं होता वह विश्व-प्रेमी होने के स्थान में पराकाष्ठा के स्वार्थी हो जाते हैं। जिसने किसी से प्रेम करना ही नहीं सीखा वह विश्व को क्या प्रेम करेगा? जिसने कुटुम्ब से प्रेम किया है उसे तो समझा सकते हैं कि अब संसार को ही कुटुम्ब समझो। परन्तु जिसने कुटुम्ब से भी प्रेम नहीं किया उसे क्या कह कर समझावें? जिसने खाँड खाई हो उसे कह सकते हैं, कि खजूर खाँड के समान मीठी होती है। परन्तु जिसने खाँड़ ही न खाई हो, उसे खजूर का स्वाद कैसे समझावें? उसे तो खजूर का स्वाद, खजूर खाने पर ही समझ में आ सकता है। और यदि खजूर मिलती न हो, खाँड़ खाई न हो, तो उसे खजूर का स्वाद किसी प्रकार भी नहीं समझाया जा सकता। ठीक इसी प्रकार जिसने देश से प्रेम किया है, उसे कह सकते हैं, कि जैसा प्रेम देश से किया है, वैसा ही अब संसार से करो। किन्तु जिसने देश से प्रेम किया ही नहीं, उसे विश्व प्रेम कैसे समझावें। यह ठीक है कि कई सिद्ध मनुष्य सीधे विश्व-प्रेम को समझ लेते हैं। जैसे खजूर के देश में पैदा होने वाले पहिले खजूर का स्वाद जानते हैं, पीछे खाँड का। इसी प्रकार कई मनुष्यों में विशालतर प्रेम स्वाभाविक होता है, और लघुतर पीछे आता है, अथवा नहीं भी आता। परन्तु इस श्रेणी के लोग अति दुर्लभ हैं। करोड़ों में एक, और युगों के पीछे, जन्म लेते हैं। साधारण मनुष्यों में तो प्रेम का विकास समन्वय के द्वारा धीरे-धीरे छोटे प्रेम से बड़े की ओर जाने से आयु के साथ-साथ होता है। किन्तु विश्व-प्रेम का दम भरने वालों की संख्या अपार है। यह विश्व-प्रेम की आड़ में स्वार्थ और कायरता को छिपाने वाले नीच, कपटी, दम्भी ही विश्व-प्रेम को बदनाम कर देते हैं, और हिटलर मुसोलिनी इसी प्रकार के दम्मियों के विरुद्ध मूर्त्तिमती प्रतिक्रिया हैं।

इस प्रतिक्रिया को समझने के लिए इसके इतिहास की ओर जाना होगा। इस संसार में क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा जो विचारों का विकास होता है, उसका अध्ययन बड़ा हृदयग्राही है। विचारों का विकास प्रायः तीन कोटियों में से गुजरता है। वह तीन कोटियाँ हैं—अन्वय प्रतिव्यय और समन्वय। बालकों की प्रवृत्ति अन्वयशील होती है। वे एक पक्षे होते हैं। युवावस्था प्रायः प्रतिव्यय-शील होती है, और विचारवानों की वृद्धा-वस्था समन्वय-शील होती है। बालकपन में, खेलने-वालों में जा बैठे तो खेल में ही रम रहे, कथा सुनने गए तो कथाओं का ही पागलपन हो गया। यह एक ही आवत

के पीछे पड़ जाने की प्रवृत्ति अन्वय की प्रवृत्ति है। फिर युवावस्था तक पहुंचने तक, किसी को खेल में हानि हुई तो खेल के दुश्मन हो गए, कथा में दो चार बार ठगे गए तो कथा के नाम से जलने लगे और सब धार्मिक लोगों को ढोंगी आदि नाम से पुकारने लगे, यह प्रवृत्ति होती है। इस उलटकर बहने वाली प्रवृत्ति का नाम प्रतिव्यय की प्रवृत्ति है। फिर धीरे-धीरे बहुत से लोग, समय पर खेलना, समय पर पढ़ना, उन्नति की ओर ले जाने वाली कथा में जाना, कथा नाम सुनते ही भाग न पड़ना, इस प्रकार दो विरोधी धाराओं के समन्वय द्वारा तीसरा मार्ग निकाल लेते हैं।

संयास आश्रम को समझने के लिए हमें इस समन्वय के मर्म को समझना होगा।

आज संसार का क्या हाल है? होना तो चाहिए देवासुर संग्राम। संसार भर के देव संसार भर के असुरों को मिटाने में लगे हों। ब्राह्मण उन्हें उपदेश द्वारा, और क्षत्रिय दंड द्वारा मिटावें। किन्तु हो यह रहा है, कि संसार भर के असुरों का पूर्ण सङ्गठन है और देवलोग उनकी कठपुतली बनकर आपस में लड़ रहे हैं। शराब बेचने वाले, कोकेन बेचने वाले, भांग, चरस, अफीम बेचने वाले, स्त्रियों का व्यापार करने वाले, संसार भर में एक हैं। उनमें देश, जाति, धर्म का कोई भेद नहीं। उनका विश्वव्यापी सङ्गठन है और ऐसा उत्तम सङ्गठन है कि पीरू से चलकर कोकेन पेशावर के बाजारों में बिकती है। पीरू से पेशावर तक न जाने कितने देशों की पुलिस बराबर इस व्यापार को रोकने में लगी है। परन्तु भाषा, देश, समुद्र, पर्वत सबकी बाधाओं को लांघकर कोकेन फिर भी पेशावर के बाजारों में पहुंच जाती है। यह तो है, असुरों का संगठन।

अब देखिए देवताओं को। आज यदि इङ्गलैण्ड और जर्मनी का युद्ध हो तो दोनों देशों के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य जो अपना सर्वस्व, यहां तक कि प्राण भी, हँसते, हँसते देश की सेवा में दे जावें, ऐसे देवता तो आपस में एक-दूसरे की हत्या करेंगे, और दोनों देशों के स्वार्थी, दुराचारी,शराब, कोकेन भोगतृष्णा का व्यापार करने वाले मौज उड़ावेंगे।

देश-भक्ति के इस दुष्परिणाम से घबराकर कार्ल-मार्क्स विश्व-प्रेम की ओर भागे। यह देश-भक्ति से प्रतिव्यय तथा विश्व-प्रेम की ओर अन्वय की अवस्था थी। इस अन्धे अन्वय में कार्लमार्क्स यह भूल गए, कि साधारण

मनुष्य सीधा विश्व-प्रेम की ओर नहीं भाग सकता और यदि भागने का यत्न करे तो उसका देश-प्रेम भी जाता रहता है। ब्रह्माण्ड पर प्रकाश करना सूर्य का ही काम है। दीपक यदि अपनी चिमनी से निकल पड़े तो ब्रह्माण्ड में प्रकाश करना तो दूर रहा, पवन के झोंके से अपनी नन्हीं सी ज्वाला भी खो बैठता है। प्रकाश बढ़ाने के लिए ढकना उठाना ही पर्याप्त नहीं, ज्वाला भी बढ़ानी पड़ती है। कार्ल मार्क्स ने इसी तत्त्व को भुला दिया। परिणाम यह हुआ कि उनके अनुयायियों ने विश्व-प्रेम की आड़ में अत्यन्त स्वार्थमय जीवन बिताना आरम्भ किया। इससे जो प्रतिव्यय हुआ उसी के फल आज हिटलर और मुसोलिनी है। साम्यवादी यदि चाहें कि हिटलर और मुसोलिनी को गाली देकर वे फासिज्म को संसार से मिटा दें, तो यह ऐसा ही असम्भव है जैसा फासिस्टों का साम्यवादियों को गाली देकर मिटा देने का यत्न करना। किन्तु यदि फासिस्ट लोग भी स्वदेश तक ही रह गए तो विश्व-व्यापी युद्ध अवश्य होकर रहेगा, और उसमें न हिटलर के देश का भला है, न मुसोलिनी के देश का।

इसलिए आवश्यकता है समन्वय की। जिस प्रकार फासिस्ट देश कुटुम्ब प्रेम और देश-प्रेम का समन्वय करते हैं, इसी प्रकार देश-प्रेम और विश्व-प्रेम का समन्वय करने का समय आ गया है। क्या हर एक इटैलियन इस बात में गौरव नहीं मानता कि धन्य है मेरा कुटुम्ब जिसने देश के लिए इतना त्याग किया। ठीक इसी प्रकार अब हर एक देश कहे, कि धन्य है मेरा देश, जिसने विश्व के कल्याण के लिए इतना त्याग किया। समाजवादी 'मेरा कुटुम्ब, मेरा देश' इस भावना को बिलकुल मिटाना चाहते हैं। भारतवासी "मैं" से आगे बढ़ते हैं तो "मेरा कुटुम्ब" तक पहुंचते हैं "मेरा देश" तक भी नहीं पहुँच पाते। फासिस्ट लोग "मेरा देश' से आगे बढ़ना ही नहीं चाहते। जिस प्रकार "विश्व-प्रेम" के प्रचार होने से फूट फ़ैलती है उसी प्रकार 'मेरा देश' की भावना मिटने से स्वार्थ घेर लेता है। इसीलिए "मेरा देश" और "मेरा संसार" के समन्वय की आवश्यकता है। "मातृभूमि" से "भूमि माता" तक पहुँचने का समय आ गया है। यह समन्वय ही अगले युग का सन्देश है।

परन्तु यह समन्वय लाए कौन ? यहाँ फिर कार्लमार्क्स ने भूल की। वे बोले इस समन्वय को लाएँगे श्रमजीवी। उन्होंने आन्दोलन किया संसार के श्रमजीवियों! इकट्ठे हो जाओ। मार्क्स ने अपने आन्दोलन का यदि एकमात्र आधार स्वार्थ और ईर्ष्या को नहीं बनाया तो कम-से-कम इन्हें मुख्य स्थान तो अवश्य दिया। रूस के लोग भूख से व्याकुल थे। उन्हें समझाना सुगम था। परन्तु जहाँ की प्रजा भूख से व्याकुल नहीं वहाँ कोई आन्दोलन स्वार्थ के नाम पर खड़ा नहीं किया जा सकता। यह एक गोरखधंधा है कि स्वयं स्वार्थ-त्याग की मूर्ति होने पर भी मार्क्स और लेनिन स्वार्थ भावना के प्रचारक हुए। और यह आन्दोलन बिलकुल नष्ट हो जाता यदि इन महात्माओं का त्यागमय जीवन साथ न होता। यदि मनुष्य का ध्येय रोटी के लिए है, तो मार्क्स और लेलिन को तो पेट से भी अधिक रोटी मिलती थी, वे रोटी का त्याग करके आदर्शों के लिए क्यों जिए इसका साम्यवादियों के पास कोई उत्तर नहीं। तुम जो प्रति दिन कहते हो हमें भगवान् का नाम मत दो, रोटी दो, सो अपनी रोटी के लिए लड़ते हो, कि मनुष्य-मात्र की रोटी के लिए ? यदि अपनी रोटी के लिए लड़ते हो, तो पूँजीपति ने क्या अपराध किया है ? यदि अपने दुःखी भाइयों की रोटी के लिए लड़ते हो, तो ईश्वर-भक्तों ने क्या अपराध किया है, जो हमें "‡यस्मिन् सर्वाणि 'भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः' (यजु० ४०।७) का पाठ पढ़ाते हैं ? सच तो यह है कि जनता ने धर्म-प्रचारकों के जीवन को सदा देखा है। उसने तर्क नहीं किया। यही बात मार्क्स के साथ भी हुई। हजार शपथ खाने पर भी कोई यह नहीं मान सकता, कि मार्क्स प्रकृति-पूजक (Materialist) था। यदि वह प्रकृति-पूजक था तो उसने जनता को ज्ञान क्यों दिया ? अनेक कष्ट क्यों झेले ? रोटी तो वह साधारण मजदूरी से भी खा सकता था। इसीलिए यह समझना भूल है, कि संसार के श्रमजीवी संसार का कल्याण करेंगे। इसी भूल का फल यह हुआ, कि साम्यवाद रूस की सीमा लाँघकर जर्मनी तक भी नहीं पहुंच सका।

---

‡जिस ईश्वर-साक्षात्कार की अवस्था में विज्ञानी पुरुष के लिए सब प्राणी अपना आत्मा ही बन जाते हैं।

यदि संसार को एक करेंगे तो श्रमजीवी नहीं, बुद्धिजीवी करेंगे । संसार के मस्तिष्कों को इकट्ठा करो, हाथ पैर स्वयं इकट्ठे हो जावेंगे । किन्तु संसार के मस्तिष्कों को इकट्ठा वे ही कर सकते हैं, जो या तो क्रम-विकास से विश्व प्रेम तक पहुंचे हों, अथवा जिनमें विश्व-प्रेम की ज्योति ऐसे अदम्य रूप से जाज्वल्यमान हो, कि वह सूर्य के समान चमके । विश्व-प्रेम का दम भर कर अन्धकार में चमकने वाले जुगनू यह कार्य नहीं कर सकते । अतः इस समय संसार को ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता है, जिनके हृदय में पितृ-प्रेम, मातृ-प्रेम, भगिनी--प्रेम, भ्रातृ--प्रेम, गुरु-प्रेम, मित्र--प्रेम, कुटुम्ब--प्रेम आदि कोटियों में होता हुआ प्रेम सच्चे विश्व-प्रेम के सूर्य के समान चमक उठे, अथवा उनको यह विश्व-प्रेम की विभूति जन्म से ही प्राप्त हो । इन लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा से ऊपर उठे हुए "देश-काल जात्यनवच्छिन्न, सार्वभौम प्रेम के महाव्रत" में दीक्षित महापुरुषों का ही नाम संन्यासी है ।

भारत को गौरव है, कि दयानन्द, शङ्कर, रामकृष्ण परमहंस आदि अनेक पुरुष उसने इस पद के अधिकारी पैदा किये हैं । इस युग में भी महात्मा गांधी के रूप में देश-प्रेम और विश्व-प्रेम का समन्वय मूर्तिमान होकर संसार को मार्ग दिखा रहा है । धन्य है वह महापुरुष जो दिन रात एक विदेशी शासन से लड़ाई करता हुआ भी हृदय में कभी द्वेष का लेश नहीं, आने देता और जिसके हृदय का विश्व-प्रेम का भण्डार फिर भी अखूट का अखूट है ।

ऐसे महापुरुषों के पीछे चलने वाले एच. जी. वेल्स (H. G. Wells) जैसे अनेक विद्वान् हैं, जो इस संसार को मार्ग दिखा रहे हैं । यह हमारा दुर्भाग्य है, कि हमारा सङ्गठन न होने के कारण हम एक दूसरे को जानते ही नहीं ।

यह जो एक ओर चालीस लाख हिटलर की, और दूसरी ओर चालीस लाख स्टालिन की संगीनें तनी हुई हैं, इन प्रलयङ्कारी प्रतिद्ध्यों का समन्वय संन्यासियों से परिचालित बुद्धिजीवियों की सेना ही कर सकती है । इस सेना के नासीर (Vanguard) का नाम ही ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज रक्खा था । वह समाज आगे क्या करेगा, यह भविष्य के गर्भ में लीन है । परन्तु संसार संन्यासियों की प्रतीक्षा में है और भविष्य का आन्दोलन "श्रमजीवियों को इकट्ठा करो" नहीं किन्तु "बुद्धिजीवियों को इकट्ठा करो" यह होगा । उनके इकट्ठा होने के लिए सच्चे नेता सन्यासियों की आवश्यकता है । यह है चौथे आश्रम की महिमा !

इस वर्णाश्रम-व्यवस्था के बिना संसार का निस्तारा नहीं। अन्त में इस अध्याय को महामना एच. जी. वेल्स(H. G. Wells) के शब्दों के साथ समाप्त करते हैं——"It is in the ineradicable disinterested integrity which this priestly learned class alone has fostered that the future of humanity lies".* (The work Wealth and Happiness of Mankind. P. 313) वेल्स के इसी "पुरोहित वर्ग" (Priestly Learned Class) का नाम ब्राह्मण वर्ण है। और इसके सेनापतियों का नाम सन्यासी है। संसार का कल्याण वर्ग-हीन समाज (Classless Society) में नहीं किन्तु आदर्श वर्ग रचना और वर्ग सामञ्जस्य (True classification) में है।

प्रभु हमें बल दें, कि हम वर्णाश्रम व्यवस्था का उद्धार करने में समर्थ हों।

———

*इस शिक्षित पुरोहित वर्ग ने जिस अमिट और निःस्वार्थ सत्य-प्रियता को जो पाला-पोसा है उसी पर मनुष्य-जाति का भविष्य निर्भर करता है।

: ७ :

जलौघ

वैदिक साहित्य में साधारण प्रजा को "आपः" अर्थात् जल कहा गया है। यदि हम प्रजा को जल मान लें, और श्रम द्वारा उत्पन्न होने वाले भोग्य-पदार्थों को किनारा मान लें, तो पुराण, बाईबल, कुरान आदि सब पुराने ग्रन्थों में आने वाले जल-प्रलय की कथा झट समझ में आ सकती है। जिस प्रकार समुद्र और किनारे का युद्ध सदा जारी है, इसी प्रकार जनसंख्या और भोग्यपदार्थों का युद्ध सदा जारी है। जिस प्रकार जल सदा किनारे को खाकर समाप्त किया चाहता है, इसी प्रकार प्रजा भोग्यपदार्थों को समाप्त किया चाहती है। शतपथ-ब्राह्मण में इन भोग्यपदार्थों को "इडा" और प्रजा की वृद्धि को "जलौघ" कहा गया है। यह युद्ध समाज की व्यवस्था में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

हमने वर्ण और आश्रम की जो व्यवस्था ऊपर कही है, उसके होते हुए भी यदि जनसंख्या की वृद्धि इतनी अधिक हो जाय, कि भोग्यपदार्थ रहें ही नहीं, तो सारी शिक्षा-धरी की धरी रह जाती है। जब पेट में अन्न न पड़े तो बड़े-से-बड़े महापुरुषों का धैर्य भी डांवाडोल हो जाता है। और मान भी लीजिए, कि समस्त धरती पर दो चार पुरुष धैर्यपूर्वक मर गए तो क्या हुआ? शेष लोग तो एक-दूसरे को खाने में ही प्रवृत्त होंगे। इसलिए आवश्यक है, कि मनुष्य-समाज की उन्नति के लिए जनसंख्या की वृद्धि का भी नियन्त्रण किया जाय। इस विषय में आजकल बड़ा आन्दोलन चल रहा है। विषय है भी इतना महत्त्वपूर्ण कि इसका निर्णय परमावश्यक है।

इस विषय में वेद कहता है कि 'अदारसृद् भवतु' (अथर्व० १।२०।१) अर्थात् जो मनुष्य दुष्ट सन्तति उत्पन्न करेगा उसका स्त्री सम्बन्ध ही नहीं होना चाहिए। वस्तुतः, इस सम्बन्ध में जनसंख्या की वृद्धि के रोकने के चार उपाय बताए जाते हैं—

(१) ब्रह्मचर्य।
(२) राज्य द्वारा अयोग्य लोगों को सन्तानवृद्धि के अयोग्य बना देना।
(३) कृत्रिम उपायों द्वारा गर्भ-निरोध।
(४) गर्भ-पातन।

इसमें तो सन्देह ही नहीं हो सकता, कि जनसंख्या की अतिवृद्धि को रोकने का सर्वश्रेष्ठ उपाय ब्रह्मचर्य है। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं, कि सुदूर भविष्य तक इस उपाय का सर्व-साधारण द्वारा अवलम्बन असम्भव कल्प है। और अति दूर भविष्य में भी सब लोग इस उपाय का अवलम्बन करने योग्य हो जावेंगे ऐसा समझना कोरी कल्पना-सी दीखती है। इसलिए राष्ट्र को राज्य नियम द्वारा भी बहुत से लोगों को सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य बनाना ही पड़ेगा। इस विषय पर बहुत विस्तार से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखना आवश्यक है जिसमें मनु आदि महर्षियों से लेकर वर्तमान युग के विचारकों तक ने इस विषय में जो विचार किया है, उस सबका मन्थन किया जाय। परन्तु इस ग्रन्थ में इस पर अधिक विस्तार से इसलिए नहीं लिखते, कि अभी मनुष्य जाति के सामने अभाव का प्रश्न इतना प्रबल नहीं जितना अन्याय का है। वर्तमान युग में प्रजा इसलिए भूखी नहीं मर रही, कि अन्न उत्पन्न नहीं होता। इस समय तो भूखे मरने का कारण अन्याय है। अन्न तो इस समय इतना उत्पन्न होता है अथवा हो सकता है, कि इससे दुगुनी प्रजा भी खा सके।

अब गर्भ-निरोध अथवा गर्भ-पातन पर विचार करना भी आवश्यक है। इनमें गर्भ-पातन अत्यन्त हानिकारक है। इस विषय में दो मत नहीं हैं। इसलिए गर्भ-निरोध के सम्बन्ध में ही विचार करना आवश्यक है। यह बात निर्विवाद है, कि गर्भ-निरोध का ऐसा कोई उपाय अभी तक पता नहीं लग सका जिससे शरीर को किसी प्रकार की हानि न हो। किन्तु यह तो व्यक्ति की दृष्टि से विचार हुआ। परन्तु यह प्रश्न तो राष्ट्रीय है। राष्ट्र की दृष्टि से जहाँ संख्या की अतिवृद्धि हानिकारक है, वहाँ गर्भ-निरोध के प्रचार से राष्ट्र के बीजनाश के भय को भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। साथ

ही यह भी नहीं भुलाया जा सकता, कि प्रायः इन विचारों का प्रभाव उन लोगों पर होता है जो अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को समझते हैं। इस का परिणाम यह हो रहा है कि उत्तरदायित्वहीन असुर लोगों की संख्या बढ़ रही है और परोपकार-परायण देव लोगों की संख्या घट रही है। जिस उद्देश्य से यह सिद्धान्त चलाया गया था उससे ठीक उलटा परिणाम हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के प्रचार से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही है।

इसलिए जब तक भूमि पर बसने वालों के लिए पर्याप्त स्थान है, अर्थात्, भोजनादि उत्पन्न करने के लिए भी पर्याप्त स्थान है, तब तक तो यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। किन्तु भविष्य में यदि कभी यह कठिनाई उपस्थित हो, और उस समय के स्मृतिकारों के हित के लिए इस प्रकार के उपायों को प्रचलित करना अनिवार्य जान पड़े, तो यह अधिकार व्यक्तियों के हाथ में न होना चाहिये। हां, यदि राज्य की ओर से इस काम के लिए नियुक्त जितेन्द्रिय वैद्य लोग किसी दम्पति की शारीरिक अवस्था देखकर यह समझें, कि उनके लिए ऐसे उपाय आवश्यक हैं, तो उन्हें इस प्रकार के साधनों के प्रयोग करने का अधिकार दिया जा सकता है। वर्तमान अवस्था में भी राज्य यदि इस अधिकार को अपने हाथ में ले ले तो कई अवस्थाएँ ऐसी हो सकती हैं, जिनमें इन उपायों के प्रयोग की आज्ञा दी जा सके। परन्तु व्यक्ति के अधिकार में देने से तो राष्ट्र का सर्वनाश अवश्यम्भावी है। जो लोग इस विषय का निरंकुश अधिकार प्रचलित करना चाहते हैं और अन्धाधुन्ध इस प्रकार के प्रचार में लगे हैं, उनके लिए पाल ब्यूरो (Paul Bureau) की टुवर्ड्स् मौरल बैंक्रप्सी (Towards Moral Bankruptcy) पुस्तक का अध्ययन आवश्यक है। इस पुस्तक के अध्ययन से उनकी आँखें अवश्य खुल जावेंगी। वर्णाश्रम में विश्वास रखने वालों को तो निःशङ्क जनसंख्या की वृद्धि करनी चाहिए, क्योंकि उनकी सन्तान अवश्य ही उत्तम कोटि की होगी। जीवन-संग्राम में उनकी अवश्य ही विजय होगी। और यदि नष्ट ही होना होगा तो अयोग्य लोग उनके सामने स्वयं नष्ट हो जावेंगे। सारांश यह कि जितेन्द्रिय, वेदवेदाङ्ग तत्वज्ञ, विद्वान् वैद्यों की सम्मति से यदि राजा किन्हीं दम्पति को गर्भ निरोध के कृत्रिम उपायों की अनुज्ञा दे दे, तो भले ही दे दे। परन्तु सामान्यतः यह

उपाय निन्दनीय ही हैं। आजकल जो इनका प्रचार हो रहा है, वह तो कमजोरी, आलस्य, स्वार्थ और विलासिता का परिणाम है। कुशल इतना है, कि ऐसे लोग स्वयं ही अपना बीजनाश करने पर तुले हैं। तो उन्हें और क्या कहना ? परन्तु धार्मिक लोगों को ऐसे पुरुषों की संगति से सदा ही बचना चाहिये, क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्ति पुरुषार्थ की ओर बड़ी कठिनता से होती है, और आलस्य की ओर तो अनायास ही हो जाती है।

जो भी हो, इस बात को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता, कि जन-संख्या की अतिवृद्धि भी युद्ध आदि विपत्तियों का कारण होती है। इसलिए, मानव-जाति के हितकारियों को इसका ध्यान सदा करना उचित है, और इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय इन्द्रिय-संयम है। प्रभु मानव जाति को बल दें, कि जो बात आज असम्भव कल्प दीखती है, वह किसी दिन सुगम प्रतीत होने लगे।

———

: ८ :

श्रमजीवियों का हित और निरीश्वरवाद

कार्ल मार्क्स उठे। उठकर संसार के श्रमजीवियों को उठाया। कार्ल-मार्क्स जागे। संसार के श्रमजीवियों का भाग्य जागा। उनमें नई स्फूर्ति, नई उमंग, नये जोश का प्रादुर्भाव हुआ। अभागे हैं, वे जो इस नई ज्योति का स्वागत न करें। परन्तु इस ज्योति के साथ जो धूम लगा हुआ है, उससे बचने का उपाय न करना भी कर्तव्य से च्युत होना होगा। वह धूम है निरीश्वरवाद। सृष्टि के आदि से आज तक का इतिहास यही दिखाता है, कि प्रभु भक्तों ने सदा दुःखपीड़ित प्रजा का साथ दिया, और अत्याचारियों को सन्मार्ग ही दिखाया। ऐसा करने में उन्हें स्वयं बड़ी से बड़ी पीड़ा भी उठानी पड़ी। परन्तु फिर भी वह अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए। यही नहीं। उनकी लोक-सेवा में शत्रुओं के प्रति भी प्रेम का दूध बरसाने वाली, एक मधुर नम्रता अपनी दिव्य आभा से जगमगाती रहती है। फिर भी, न मालूम इस समय श्रमजीवियों के पक्षपातियों ने ईश्वर और उसके भक्तों को निरन्तर गाली देने का कृतघ्नतापूर्ण ठेका क्यों ले लिया है ?

ईश्वर है। उसकी सत्ता तर्क और भक्तों के प्रत्यक्ष से प्रामाणित है। परन्तु इस समय न तो हमें तर्क वा प्रत्यक्ष की दुहाई देनी है, न कृतज्ञता और कृतघ्नता के प्रश्न को उठाना है, न संस्कृति के नाम पर अपील करनी है।

इस समय तो हमें श्रमजीवियों का उपकार चाहने वाले समाजवादियों से, दूरदर्शिता के नाम पर, केवल इतना कहना है, कि श्रमजीवियों का शोषण करने वाले पूंजीपतियों से हमें उतना ही घोर युद्ध करना है, जितना आपको। हमारी और आपकी युद्ध-पद्धति में थोड़ा भेद है। आप पूंजीपतियों को किसी

लोकान्तर के जीव मानते हैं। हम उन्हें अपने सरीखा सहृदयता और स्वार्थ का विचित्र मेल समझते हैं, उन्हें भी मनुष्य समझते हैं। और उनमें से जितनी अधिक-से-अधिक संख्या को प्रेम से जीतकर मनुष्य समाज की सेवा में लगाया जा सके, लगाना अपना कर्तव्य समझते हैं। दण्ड का प्रयोग केवल उनके लिए आवश्यक समझते हैं, जिनकी आत्मा किसी प्रकार जागृत न हो सके। किन्तु दूसरी ओर, आप उन्हें दण्ड का पात्र समझकर इस वर्ग को ही समूल नष्ट करना चाहते हैं। परन्तु यह भेद ऐसा नहीं है, कि इसके लिए वर्णाश्रमियों तथा समाजवादियों की सेना कन्धे-से-कन्धा मिला कर पूंजीपतियों से युद्ध करने न चले। पूंजीपति इस समय संसार के लिए एक यातना बने हुए हैं। उनसे संसार को छुटकारा देना दोनों का एकाग्र ध्येय है। ऐसी अवस्था में अनावश्यक प्रश्नों को बीच में लाकर इस पूंजीपति-विरोधिनी सेना में परस्पर फूट डालना बुद्धिमत्ता का मार्ग नहीं है। किन्तु न जाने क्यों समाजवादी नेताओं ने इस समय एक अनावश्यक कलह को बीच में घुसेड़ दिया है? वह है निरीश्वरवाद का आन्दोलन! श्रमजीवियों का हित करने के लिए भगवन् को गाली देना क्यों आवश्यक है, यह बिल्कुल भी समझ में नहीं आता। उलटा इस गाली-प्रदान का फल यह होता है, कि श्रमजीवियों का कष्ट-निवारण करने की अदम्य ज्वाला हृदय में धारण किए हुए, अनेक लोग इस सेना से परे हट जाते हैं और बहुत-सों को तो श्रमजीवी आन्दोलन के नाम से ही घृणा हो जाती है। समाजवादियों को उचित है, कि वह लोग व्यर्थ ही इस झगड़े को बीच में न लावें।

दूसरी ओर हमारी प्रभु-भक्तों से अपील है, कि आपकी भक्ति की तो परीक्षा ही सहन-शीलता में है। भगवान् को गाली देने से भगवान् को कोई दुःख तो पहुँच नहीं जायगा। हाँ, भगवान् को गाली देने वाले लोग भक्तिरस से प्राप्त होने वाली सरलता न पाने से अभिमान की आग से तप्त होकर स्वयं दग्ध हो जावेंगे। इसलिए यदि भगवान् के विरोधी किसी भावना के पात्र हैं, तो करुणा के, न कि रोष के। उन्हें अपने भूले भाई समझकर प्रभु की पीड़ित प्रजा की सेवा में लग जाइए। आपके कट्टर-से-कट्टर विरोधियों का विरोध इस दूध में बताशे की तरह घुले बिना नहीं रह सकेगा। प्रभो! कृपा कीजिए जिससे श्रमजीवियों के यह सच्चे हितैषी परस्पर कलह छोड़कर आपकी प्रजा की सच्ची निष्काम सेवा में लगे रहें।

: ९ :

वर्णाश्रम-आन्दोलन और व्यावहारिकता

एक बड़ा आक्षेप जो वर्णाश्रम के उद्धार के आन्दोलन पर उसके समझदार विरोधियों की ओर से किया जाता है, वह इसकी अव्यवहार्यता का आक्षेप है। प्रथम तो यह आक्षेप है ही, स्वास्थ्य की कमी का परिणाम। जो लोग, किसी आन्दोलन को, युक्तियुक्त और वाञ्छनीय समझते हुए भी, उसे केवल अव्यवहार्यता के नाम पर रोकना चाहते हैं, वह स्पष्ट शब्दों में यही कहते हैं, कि काम तो अच्छा है, पर करे कौन ? करने वाला कोई और निकल पड़े, तो साथ हम भी चल पड़ेंगे। ऐसे लोगों का स्वास्थ्य कुछ-न-कुछ बिगड़ा हुआ है, ऐसा मानना ही चाहिए। नहीं तो वे ऐसी कायरता की बात क्यों कहें ?

फिर यदि युक्ति से सोचा जाय, तो भी यह समझ में नहीं आता कि समाजवाद के आन्दोलन की अपेक्षा इस आन्दोलन को सफल बनाना क्यों कठिन है। आप राष्ट्र की सम्पत्ति के प्रश्न को ले लीजिए। समाजवादियों की दृष्टि में राष्ट्र के सब पूँजीपतियों की सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए। वर्णाश्रमवादियों की दृष्टि में केवल अयोग्य अर्थात् सम्पत्ति का दुरुपयोग और श्रमजीवियों का शोषण करने वाले पूँजीपतियों की सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए। अब विचारिए कि सब की सम्पत्ति छीन लेना अधिक व्यवहारिक है, वा कुछ की छीन लेना। यह तो साधारण गणित का प्रश्न है। सब की अपेक्षा कुछ की संख्या कम है। इसलिए उसमें श्रम भी कम लगेगा।

फिर, यह भी देखना चाहिए कि जब योग्य-अयोग्य सबको एक-सा दण्ड दे

दिया जाय तो इस अन्याय से जो भीषण अग्नि उत्पन्न होती है, वह वर्णा-श्रम-आंदोलन के विरुद्ध कभी नहीं उठ सकती।

कुछ लोग इसे इसलिए अव्यवहार्य मानते हैं, कि कौन योग्य हैं और कौन अयोग्य हैं यह एक व्यर्थ का नया झगड़ा पीछे लग जाएगा। परन्तु वे लोग विचार करें, कि इस झगड़े से तो कभी किसी राज्य का छुटकारा हो ही नहीं सकता। क्या समाजवादियों के राज्य में प्राणदण्ड या अन्य कठोर दण्ड नहीं हैं ? यदि हैं, तो क्या वहाँ कौन दण्ड के योग्य है, और कौन अयोग्य, इसका निर्णय किए बिना ही दण्ड दे दिये जाते हैं ? यदि वहाँ प्राण-दण्डादि के सम्बन्ध में योग्यता और अयोग्यता का निर्णय हो सकता है, तो सम्पत्ति के उपयोग अधिकार की योग्यता वा अयोग्यता के निर्णय ने क्या अपराध किया है, कि उसे अर्धचन्द्र दे दिया जाय ?

कई लोगों का यह भी कहना है कि यह वर्णव्यवस्था तो स्वतन्त्र राष्ट्रों में ही चल सकती है। भारत के समान पराधीन राष्ट्रों में इसका चलना असंभव है। इन लोगों को भी विचारना चाहिए, कि हर राष्ट्र में दो प्रकार के लोग होते हैं। एक वह जो राज्य के दण्ड के भय से ही किसी मर्यादा से चल सकते हैं। दूसरे वे जिनकी मर्यादा के पीछे राज्य दण्ड चलता है। अतः यह तो ठीक है, कि पराधीन राष्ट्रों में वर्णाश्रम-व्यवस्था का पूर्ण प्रचार तो परा-धीनता के नष्ट होने पर ही होगा। परन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं, कि पराधीनता नष्ट भी तो उन्हीं के उद्योग से होगी जो स्वेच्छा से अपने आपको वर्णाश्रम-व्यवस्था से सुसंगठित करके पराधीनता की बेड़ियाँ काटने चलेंगे। यह ठीक है, कि ऐसे पुरुषों की संख्या थोड़ी होगी। परन्तु वह मुट्ठी-भर लोग "*गणाद् गुणो गरीयान्" के सिद्धान्तानुसार शेष सारी संख्या से अधिक महत्व रखते हैं। इसलिए संसार के नवयुवको ! उठो, अव्यवहार्यता का जाप रोगियों और कायरों के लिए छोड़ दो। भविष्य-संसार का उज्ज्वल भविष्य तुम्हारे हाथ में है।

और अब तो तुम्हारा राष्ट्र स्वतन्त्र हो गया है।

---

* संख्या से योग्यता बढ़ी है।

: १० :

वर्णाश्रम संघ

१. उसका इतिहास और कार्यक्रम

पिछले अध्यायों में जिन विचारों का प्रकाश किया गया है उन्हीं से प्रेरित होकर १९३४ कि नवम्बर मास की ६ तारीख को कुछ उत्साही लोग मेरे साथ माडल डेयरी फार्म देहरादून में इकट्ठे हुए। उनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

श्रीयुत स्वराज्यकृष्णजी, श्री वेदप्रकाशजी, श्री अमृतकुमारजी, श्री केदार जी, श्री गौरीशंकर जी, श्री सुरेन्द्रनाथजी, श्री व्रतपालजी, श्री विनयचन्द्रजी, श्री विपिनचन्द्रजी, श्री एन० चमनजी।

इस बैठक में संघ का जो ढाँचा नियत हुआ उसी का परिष्कृत रूप इस समय इसके नियमों के रूप में उपस्थित है। विधिपूर्वक यज्ञ के पश्चात् संघ का कार्य-क्रम निश्चय करके संघ के सब समासदों ने मसूरी की यात्रा की। वह यात्रा संघ के भावी इतिहास की सूचना दे रही थी। किस उत्साह से संघ के सब नवयुवक सभासद् मेरे साथ पहाड़ की चोटी की ओर चढ़ रहे थे, वह दृश्य कभी भुला नहीं सकता। फिर, उसके पश्चात् कुछ समय तक यह कार्य शिथिल सा पड़ा रहा। मैं व्याख्यानों द्वारा इन विचारों का प्रचार करता रहा, और इस बात के उद्योग में भी लगा रहा कि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, वर्णा-श्रम संघ के कार्यक्रम को अपना ले। किन्तु फिर यह विचार कर कि लोक-तन्त्र की विचार-धारा ज्वार भाटे की तरह नित्य बदलती रहती है, इस-लिए इस आंदोलन को स्थिर बना देना चाहिए, १९३६ की १४ जुलाई को

वर्णाश्रम संघ के नाम से एक संस्था लाहौर में रजिस्टर करा ली गई। इसी संस्था के हाथ में अब संघ का भावी कार्यक्रम है।

अस्तु। रजिस्ट्रेशन के पश्चात् संघ का प्रथम वार्षिक अधिवेशन युक्त प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधि सभा की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर (दिसम्बर १९३७) मेरठ में हुआ। यहीं यह निश्चय हुआ, कि संघ का वार्षिक अधिवेशन सदा विजय दशमी पर हुआ करे। इस निश्चयानुसार, दूसरा अधिवेशन लाहौर में ३ अक्तूबर १९३८ को विजयादशमी के दिन हुआ। इस अधिवेशन में एक ग्राम बसाने का संविधान उपस्थित किया गया।

२. ग्राम बसाने की योजना

यही ग्राम बसाना संघ का भावी कार्य-क्रम है। इस ग्राम में ८ ब्राह्मण, ११ क्षत्रिय, २१ वैश्य और यथापेक्षित शूद्र लोग पहिले-पहिल बसेंगे।

३. ब्राह्मणों की बस्ती

वेद में सात विद्याओं के जानने वाले सप्त सूर्यों का वर्णन आता है। वह सात महाविद्या इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्म-विद्या।
(२) जीव-विद्या।
(३) प्रकृति-विद्या।
(४) आहार-विद्या अथवा अर्थवेद।
(५) रक्षण-विद्या अथवा धनुर्वेद।
(३) आयुर्वेद।
(७) गन्धर्ववेद।

संघ में ब्राह्मणवर्ण में दीक्षित होने वाले नवयुवक लोग ७ ग्रामों के बीच एक केन्द्रीय स्थान ढूंढकर बसाए जावेंगे। वहां रहकर वे सप्ताह में एक दिन प्रत्येक ग्राम में साधारण ज्ञान तथा साक्षरता का प्रचार करेंगे। इस प्रचार से बचने वाला समय वे अपने लिए चुनी हुई विद्या के अभ्यास में लगाएँगे। ७ ग्रामों के केन्द्र में उनका आश्रम होगा, जहाँ वह परिवार-सहित रहेंगे। आश्रम में उनके लिए उनकी अपनी विद्या के सम्बन्ध में छोटा-सा पुस्तकालय भी रहेगा। इन आश्रमों की संघ की ओर से यथासम्भव सहायता की जायगी। परन्तु इनकी वास्तविक सफलता कार्य-कर्त्ता ब्राह्मणों के तप और विद्या के

प्रभाव पर निर्भर होगी । उनका कर्तव्य है, कि अपने प्रभाव से ग्रामवासियों को इतना मोहित कर लें, कि ग्रामवासी आश्रम का भार स्वयं अपने ऊपर ले लें । इस बात का भी यत्न किया जायगा, कि इन सब आश्रमों को रेडियों द्वारा आपस में जोड़ दिया जाय, और केन्द्र से उनके लिए प्रतिदिन निर्देश मिला करें । इन आश्रमों में रहने वाले जो ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ होंगे, उन्हें केन्द्र के ७ ब्राह्मणों में स्थान दिया जायगा, जिससे कि इस गौरव को पाने के लिए सब आश्रमों के अध्यक्ष स्पर्धा पूर्वक उद्योग करें ।

४. क्षत्रियों की बस्ती

ब्राह्मणों के आश्रमों के साथ ही क्रीडाक्षेत्र बनाने का यत्न किया जायगा । इनमें भाग लेने वाले लोगों में से चुने हुए ११ सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय केन्द्र में स्थान पाएँगे । वहाँ उनके इतिहास, राजनीति आदि के अध्ययन का पूरा प्रबन्ध होगा और वे ग्राम की रक्षा करेंगे ।

५. वैश्यों की बस्ती

वैश्य लोगों को व्यापार का बन्धन है । उन्हें जहाँ उनका व्यापार ले जाय वहीं जाना पड़ता है । इसलिए जो वैश्य लोग वहाँ न बस सकें, वे अपना एक भवन इस ग्राम में अवश्य बनाएँगे, और अपने परिवार को अधिक-से-अधिक समय तक इस आश्रम में रक्खेंगे । जिनका व्यापार इस प्रकार का हो, कि जो किसी भी स्थान से चलाया जा सके, वे नियमित रूप से इस केन्द्र ग्राम में रहेंगे ।

ग्राम में बसने वाले प्रत्येक वैश्य को ग्राम के एक-न-एक ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय के पालन-पोषण का पूरा भार अपने ऊपर लेना होगा । कौन किस का भार ग्रहण करे, इसका निर्णय पूर्णतया वैश्य लोगों की इच्छा पर निर्भर होगा । परन्तु एक बार किया हुआ चुनाव बिना किसी अत्यन्त विशेष कारण के बदला न जायगा ।

६. शूद्रों की बस्ती

प्रयत्न किया जायगा, कि ग्राम में शूद्रों का कार्य यथासम्भव यन्त्रों से लिया जाय । किन्तु जिन शूद्रों का बसना आवश्यक होगा उनको खाने, पीने, रहने आदि का सब सामान ब्राह्मणों के समान दिया जायगा ।

७: कार्य की हल्की झाँकी

ग्राम के पूर्व भाग में एक विशाल पुस्तकालय होगा उसके चारों ओर ७ महाविद्याओं के विद्वानों के आश्रम होंगे, जिनमें वे मुख्यतया दिन-भर अपनी अपनी विद्याओं का अध्ययन करेंगे। और बड़ी आयु के अति योग्य शिष्यों का अध्यापन भी यथावकाश करते रहेंगे। किन्तु उनका मुख्य कार्य अध्ययन होगा।

ग्राम से कम-से-कम दो मील की दूरी पर वानप्रस्थ आश्रम बनेगा जिसमें ग्रामवासी गृहस्थ लोग वानप्रस्थ प्रवेश के समय जाकर बसेंगे, और उनके पास ग्राम-वासियों के बालक विधिपूर्वक गुरुकुल में रहकर विद्याभ्यास करेंगे। गुरुकुल में जाने से पूर्व की शिक्षा ग्राम के बालकों को पुरोहितों द्वारा दी जायगी।

आरम्भकाल में महाविद्याओं के विद्वान् ही पुरोहित कार्य भी करेंगे। किन्तु आवश्यकता होने पर अन्य ब्राह्मण भी पुरोहित कर्म के लिए बसाए जाएँगे, जिन के पालन-पोषणादि का सम्पूर्ण भार यजमानों पर होगा। कालान्तर में संघ की शक्ति बढ़ जाने पर यह आदिग्राम विशाल भूमि में ले जाया जायगा और वहाँ एक विशाल आदर्श-नगर की स्थापना होगी। यह ग्राम आदर्श-नगर का बीजरूप होगा। इसलिये इसका नाम प्रभात-नगर रक्खा जायगा।

यह नगर ही विश्व-भर में वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रचार का केन्द्र होगा। यथाशक्ति संघ देश-देशान्तरों में इस प्रकार के नगर बसाएगा। और यदि संघ को सफलता हुई, तो उससे प्रेरित होकर सब लोग स्वयं इस प्रकार के नगरों की स्थापना करेंगे।

संघ का प्रयत्न होगा, कि इस पद्धति से सारे विश्व को एक संस्कृति दे, जिसमें सब संस्कृतियों का समन्वय हो। हो सके तो एक भाषा दे। सारे राष्ट्रों का एक राष्ट्र बना दे।

मैं संघ की ओर से सब राष्ट्रों के नव-युवकों को निमन्त्रण देता हूं, कि वे अविद्या, अन्याय, और अभाव के प्रति इस महायुद्ध की सेना में सम्मिलित हों। विश्व में देवों का देवों से युद्ध दूर हो, और सर्वत्र शान्ति का राज्य हो। हे देवाधिदेव! आइए, और इस सेना के सेनापति बनिए।

‡ओ३म् । अग्नि आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

साम० छन्द० १।१

†ओ३म् । भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

यजु० २५।२१

*ओ३म् । स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

यजु० २५।१९

---

‡ हे ज्ञान और प्रकाश-स्वरूप प्रभो ! हम आपके गुणों का गान करते हैं, आप सब कुछ देने वाले हो, हमें मंगल की प्राप्ति तथा चाहने योग्य पदार्थों के दान के लिए हमारे हृदय रूपी आसन पर विराजमान हूजिये ।

†हे भगवन् ! हम कानों से सदा भली बातें सुनें, आँखों से भले दृश्य देखें, संगठन में रहें, दृढ़ अङ्गों वाले होकर आपकी स्तुति करते हुए देव-हितकारी लम्बी आयु प्राप्त करें ।

*अत्यधिक ज्ञानवाला वह परमैश्वर्यशाली भगवान् हमारे लिए मंगलकारी हो, सब प्रकार के धनों वाला सबका पोषक वह भगवान् हमारे लिए मंगलकारी हो, अखण्ड शक्तिवाला सर्वत्र व्यापक वह भगवान् हमारे लिए मंगलकारी हो, सबका महान् पालक वह भगवान् हमारे लिए मंगलकारी हो ।

द्वितीय भाग

विकासवाद

वर्णाश्रम व्यवस्था चाहे कितनी युक्ति सङ्गत तथा मानव जाति का कल्याण करने वाली क्यों न हो, किन्तु उन्हें अब स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह पुरानी हो चुकी हैं। यह वाक्य वर्तमान युग में वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोधियों की जिह्वा की नोक पर नाचता रहता है। उनके इस वाक्य के मूल में विकासवाद का अन्धविश्वास काम कर रहा होता है। भला यदि हर एक पुरानी वस्तु त्याज्य हो तो सूर्य्य के प्रकाश को घर में नहीं आने देना चाहिए, क्योंकि सूर्य्य पुराना हो चुका है, तथा अपने बूढ़े माता-पिता आदि को मार देना चाहिए, क्योंकि वह भी पुराने हो चुके हैं। दूसरी ओर यदि किसी को जुकाम या ज्वर हो जाय तो उसे बड़े प्रेम-पूर्वक पालना चाहिए क्योंकि वह नया है। वर्तमान युग में विकासवाद हर क्षेत्र में इतना घर कर चुका है, कि किसी मर्यादा को तोड़ने के लिये इतनी ही युक्ति पर्याप्त है, कि वह पुरानी हो चुकी है। इसलिए आवश्यक है, कि इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाय।

विकासवाद के दो मूल सूत्र हैं।

जिस शक्ति की जीवन यात्रा को चालू रखने के लिए आवश्यकता होती है। उसे बारम्बार प्रयोग में लाना पड़ता है, फिर अभ्यास वश धीरे-धीरे उस अङ्ग का विकास हो जाता है, जो इस क्रिया के लिए अपेक्षित होता है। सो सूत्र यह हुआ, कि प्रयोजन से अभ्यास तथा अभ्यास से विकास।

इसके विपरीत दूसरा सूत्र इस प्रकार है—

जिस शक्ति को जीवन यात्रा के लिए अपेक्षा नहीं रहती, उसका अभ्यास लोप हो जाता है। फिर धीरे-धीरे अभ्यास लोप के कारण उस अङ्ग का भी लोप हो जाता है सो यह सूत्र इस प्रकार हुआ।

प्रयोजनाभाव से अभ्यास लोप, अभ्यास लोप से अङ्ग लोप, उदाहरण के

लिये मनुष्य को पूंछ से प्रयोजन नहीं, इसलिए उसके पूंछ नहीं रही। मछलियों को बाहर रहने का अभ्यास होने पर तैरने के लिए पंखों की आवश्यकता नहीं रही, इसलिये वे लुप्त हो गये।

अब इन सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट होता है, कि इन दोनों में ही सार नहीं।

उदाहरण के लिये जो जङ्गली जातियें रात-दिन समुद्र के किनारे रहती हैं तथा मछली मार कर ही जीवन निर्वाह करती हैं, उन में मछलियों की भांति पंख क्यों नहीं, साथ ही उनका सद्योजात शिशु तैरना क्यों नहीं जानता, उनकी यह शक्ति लोप कैसे हो गई।

दूसरी ओर राजपूताने की भैंस जिसे कदाचित् सहस्रों वर्षों से पानी में तैरना नहीं पड़ा उसका आज का पैदा हुआ बच्चा पानी में तैरने लगता है। इसी प्रकार बन्दर और गधे का बच्चा भी। जो जंगली जातियें रात-दिन नाव में रहती हैं, जिन का आहार ही मछली है, उनकी जीवन यात्रा के लिए भैंस अथवा गधे के बच्चे की अपेक्षा तैरने की शक्ति की सहस्र-गुण अधिक आवश्यकता है, फिर उन में यह शक्ति क्यों नहीं पाई जाती, राजपूताने की भैंस जहां तरण-शक्ति का प्रयोजन नहीं उसके बच्चे में तरण-शक्ति का पाया जाना, तथा जंगली मनुष्यों के बच्चों में जिनका आधार ही तैरना है, उनके बच्चे में तरण शक्ति का न पाया जाना, स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि तैरने का जीवन यात्रा के प्रयोजन से कुछ सम्बन्ध नहीं, यह व्यवस्था करने वाली कोई और ही शक्ति है, जिसके नियमानुसार मनुष्य का बच्चा बिना सिखाये कुछ नहीं सीख सकता, तथा पशु का बच्चा बिना सिखाये भी तैरना उड़ना आदि अनेक कर्म जानता है।

तीसरे जीव जन्तुओं में अनेक ऐसी वस्तुएं पाई जाती हैं, जिनका जीवन यात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं। विकासवाद के विचारानुसार पहले जलचर जीव थे, फिर उनसे पक्षियों का विकास होने में मोर कैसे बन गया, मोर के पंख बलवान् होते उसकी चोंच अथवा पञ्जे प्रबल होते तो दूसरी बात थी, परन्तु उसके सुन्दर पंख तथा उसकी नृत्य कला का जीवन यात्रा से क्या सम्बन्ध है, सो पता नहीं लगता, कई लोग कह उठते हैं, कि इससे मोरनी आकृष्ट होती

है, जिस से सन्तान उत्पन्न होती है परन्तु प्रश्न तो यह है, कि पंखों का यह सुन्दर विकास हुआ कैसे, आकर्षण तो पँखों के विकास के पश्चात् हुआ, इसी प्रकार कोयल के स्वर में मिठास का तथा कौवे के स्वर में कर्कशता का विकास कैसे हुआ ? इसका जीवन यात्रा से क्या सम्बन्ध है।

चौथे कछुवे को लीजिये, जिस प्रकार मनुष्य के पैरों का तलुआ नंगे पैर चलने से रगड़ खाकर मोटा हो गया है, इसी प्रकार कछुआ भी पेट की ओर से कठोर होना चाहिये परन्तु कठोर है उसकी पीठ, यह पीठ इतनी कठोर कैसे हो गई, क्या कछुआ पीठ के बल चला करता था, फिर अब तो वह पेट के बल चलता है, उसकी पीठ दिन पर दिन कोमल होती जानी चाहिये, तथा पेट दिन पर दिन कठोर होना चाहिये।

पाँचवें मुसलमान लोग १४ सौ वर्ष से सुन्नत करते आ रहे हैं, परन्तु इतना प्रयत्न करने पर भी यह थोड़ा-सा चमड़ा दूर होने में नहीं आता, नए बच्चे फिर बिना सुन्नत के उत्पन्न होते हैं। इससे स्पष्ट है, कि न तो संसार में विकास का नियम है न ह्रास का। हाँ, एक चक्र अवश्य है। मानव जाति में, क्या व्यक्ति, क्या जन समुदाय, जब कठोर तपस्या का जीवन बिताते हैं, तब तन का अभ्युदय होता है, फिर ऐश्वर्य के बढ़ जाने से धीरे-धीरे आलस्य आता है, फिर पतन होता है, फिर पतन से दुःखी होकर वे तप करते हैं, तब फिर अभ्युदय होता है, जितना अधिक तप होता है, उतना ही अधिक ऐश्वर्य बढ़ता है परन्तु ऐश्वर्य का भार सहन करने की शक्ति अलग-अलग व्यक्तियों तथा समुदायों में अलग होती है फिर उसके पश्चात् आलस्य और फिर पतन, इस प्रकार तप अभ्युदय आलस्य, और पतन यह एक चक्र है, जिस पर मानव-जाति चल रही है। इसी को वेद में रथेव-चक्रा कहा है, इसी को कालिदास ने "नीचैर्गच्छत्युपरिचदिशा चक्रनेमिक्रमेण" इन शब्दों में दुहराया है। इस संसार में न तो विकासवाद है, न ह्रासवाद, हाँ कर्मचक्रवाद ही ठीक वाद है, इसे जानकर जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र ठीक कार्य करेंगे उनका उदय होगा, जो विपरीत करेंगे, उनका नाश होगा, इसलिये वर्णाश्रम-धर्म का निर्णय, "नयापन" अथवा "पुरानापन" के आधार पर नहीं किया जा सकता, किन्तु इससे मानव कल्याण होता है, वा नहीं, यही एकमात्र कसौटी है, जिस पर इसे कसा जा सकता है, कोई व्यवस्था न तो नई होने से भली वा बुरी हो

सकती है, न पुरानी होने से । हाँ जो व्यवस्था जितनी पुरानी हो, उसके ठीक होने की सम्भावना अधिक है, क्योंकि किसी पदार्थ का चिरकाल तक काल-चक्र के प्रहार को सहन कर सकना उसके पक्ष में किसी अंश तक युक्ति के रूप में अवश्य प्रयुक्त किया जा सकता है । इसलिए यदि अभिनव वाद तथा पुरातनवाद दोनों में से चुनना ही हो, तो पुरातनवाद का आधार अधिक बलवान् है । वास्तव में तो दोनों ही वाद मिथ्या हैं केवल कार्य फलवाद ही सच्चा वाद है, और वर्णाश्रम व्यवस्था की परीक्षा भी इसी आधार पर होनी चाहिए ।

वर्णाश्रम-धर्म भारतीय संस्कृति का आधार है । यह किसी देश, जाति अथवा सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता, इसके नियमों पर चलने से मानव-मात्र का कल्याण होता है परन्तु आज इतनी महिमा को न समझने के मुख्य कारणों में से एक कारण विकासवाद का अन्ध विश्वास है । जिसका वर्णन हम पहिले अध्याय में कर आए हैं । इसका दूसरा कारण है, परिस्थिति-वाद । यह विकासवाद का पिता है अथवा पुत्र-यह निर्णय करना कठिन है, परन्तु आज चारों ओर यही विचार प्रचलित है, कि मनुष्य परिस्थितियों का परिणाम है । यदि कोई मनुष्य चोरी करता है, तो हम यह नहीं कहेंगे, कि उसे अच्छी शिक्षा नहीं मिली, हमारे मुख से झट यही निकलेगा कि भूखा मरता था चोरी करली । क्या आज इस संसार में जो चोरी हो रही है, उसका कारण भूख है । क्या यह बड़े-बड़े पूँजीपति जो चोर बाजारी करके धन कमाते हैं, फिर उसे दुराचार और अत्याचार के नए-नए खेलों में लगाते हैं, यह भूखे मरते हैं । आप झट कहेंगे, कि इनके पास आवश्यकता से अधिक धन है । अच्छा तो गरीब तो भूख से चोरी करता है, अमीर धनी होने के कारण चोरी करता है, फिर चोरी हटती कैसे है, क्या मध्यम श्रेणी के लोगों में चोर नहीं होते, क्या यह जो बड़े-बड़े पूँजीपति नाना प्रकार की चोरियाँ करके धनी बने हैं, यह एक दिन गरीब और फिर मध्यम श्रेणी के लोग नहीं थे, ? यह सारा दोष परिस्थिति के सिर डालना, वर्तमान युग का सबसे बड़ा अभिशाप है, क्या इस संसार में परिस्थिति ही परिस्थिति है ? क्या अन्तः स्थिति नाम की कोई वस्तु नहीं । क्या जिस मनुष्य की अन्त:स्थिति ठीक होती है, वह निर्धनता में तप और धन पाने पर लोक सेवा नहीं करता । फिर

दोष परिस्थिति का किस प्रकार हुआ, मनुष्य न तो केवल परिस्थिति का परिणाम है, न केवल अन्तःस्थिति का, वह तो दोनों के संघर्ष का परिणाम है, जहां अन्तःस्थिति बलवान् होती है, वहां सुख और शांति निवास करते हैं, जहां परिस्थिति बलवान् होती हैं, वहाँ अनीति अत्याचार और दुःख निवास करते हैं, इसलिये हमारा मुख्य ध्येय अन्तःस्थिति का सुधार होना चाहिए। परन्तु मुख्य ध्येय तो क्या आजकल तो वह गौण भी नहीं रहा। संसार भर के दुराचारी परिस्थिति की आड़ में घोर से घोर अत्याचार करके परिस्थिति की दुहाई दे छोड़ते हैं। जो स्थान कभी कर्मफल, प्रारब्ध, भाग्य तथा कलियुग ने लिखा था, वह आज परिस्थिति ने ले लिया है। यह परिस्थिति क्या है, बीसवीं शताब्दी के कर्महीन आलसियों का महा कवच है! इसीलिये भारतीय संस्कृति सदा से परिस्थिति के सामने अन्तरात्मा को रखती आई है।

गीता में कहा है—

उद्‌रेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्

परन्तु वर्तमान युग का वाद तो निराला है।

सर्व्वं धर्मान् परित्यज्य ध्यायेदेकाम् परिस्थितिम्

इस परिस्थितिवाद ने हमें निकम्मा आलसी तथा परमुखापेक्षी बना दिया है, यह परिस्थितिवाद वर्णाश्रमधर्म के उद्धार में, और इसीलिये मानव धर्म के उद्धार में, दूसरा महा भार है।

रोटी

मानव जाति की और विशेषतया भारत की प्रगति में तीसरा महा कण्टक रोटीवाद है। मनुष्य को भूख लगती है। उसे रोटी अवश्य मिलनी चाहिए, परन्तु रोटी-रोटी चिल्लाने वाले को रोटी कहां मिलती है ? रोटी उसे मिलती है जो अपने भाइयों की रोटी की चिन्ता करता है परन्तु हम एक बात भूल जाते हैं 'रोटी' और "भाई की रोटी" में आकाश पाताल का अन्तर है। रोटी का अर्थ है भोगवाद, भाई की रोटी का अर्थ है त्यागवाद, शतपथ ब्राह्मण ने लिखा है "असुराः स्वेष्वेवास्येषु जुह्वाति अन्योन्यस्मिन् हवै देवाः"। असुर लोग अपने-अपने मुख में हवन करते हैं देवता लोग एक दूसरे के मुख में। बस इतने में भोगवाद और परोपकार का अन्तर पड़ जाता है। जिस समय हमारे देश में सोशलिस्ट तथा कम्युनिस्ट लोग रोटी-रोटी, पेट-पेट, चिल्लाते हैं, उस समय यह भूल जाते हैं, कि हम मनुष्य को पशुता की ओर ले जा रहे हैं, जो

दो हजार मासिक वेतन पाता है वह पांच हजार मासिक रिश्वत के लेता है उससे पूछो ऐसा क्यों करते हो झट पेट की ओर हाथ कर देता है कि इसके लिए भला क्या सात हजार मासिक में भी उसका पेट नहीं भरता जिसे देखो वही रोटी-रोटी चिल्ला रहा है मानों मनुष्य जीवन का उद्देश्य है 'आहार निद्रा भय मैथुन्च' यह रोटीवाद के प्रचारक संसार भर के महापुरुषों के साथ अन्ध न्याय करते हैं। क्या मार्क्स और लेलिन रोटीवादी थे, क्या वह अपने सिद्धान्तों को छोड़ देते, त न्हें रोटी की कमी थी।

मनुष्य को रोटी चाहिये पर उसका पड़ौसी भूखा मरता हो और वह अकेला रोटी खाए तो वह रोटी नहीं खाता, बोटी खाना है। रोटी तब ही सच्ची रोटी है, जब वह सबको सन्तुष्ट करके पेट में पड़े, मनु ने कहा है कि दम्पती नौकरों को भी भोजन खिला कर तब भोजन करे वह अन्न "अन्न देवता है" उसमें अध्यात्मिक भावना आ गई, परन्तु आज हमारे स्कूलों तथा कालेजों में इस रोटीवाद की कृपा से स्वार्थमय जीवन तथा भोग परायणता का प्रचार हो रहा है। इसलिये हमें इस रोटीवाद के विरुद्ध पूरे बल से प्रचार करना चाहिये।

अपवेशन

हमने अपवेशन नाम रक्खा है हड़ताल का, अपवेशन का अर्थ है अलग हट कर बैठ जाना, अर्थात् कार्यशाला में अथवा कार्य में प्रवेश करने से इन्कार करना। निसन्देह घोर अत्याचार के विरुद्ध हमारे शस्त्रों में से यह एक बड़ा उत्तम शस्त्र है परन्तु आजकल स्वार्थी लोग इस देश में इस शस्त्र का जैसा दुरुपयोग कर रहे हैं, वह वर्णन से परे है। वह यह भूल जाते हैं, कि बिना सोचे विचारे इस शस्त्र का प्रयोग करने से सबसे अधिक हानि उन गरीब लोगों की होती है, जिनके हित की दुहाई देकर यह हड़तालें कराई जाती हैं। यदि आज देश भर में रेलवे कर्मचारी हड़ताल कर दें, तो सबसे अधिक कष्ट उन लोगों को होगा, जिनके लिए सरकार विदेशों से अन्न मंगा कर उन्हें पहुंचाना चाहती है। इसी प्रकार छोटे-छोटे बच्चों को स्कूलों अथवा कालेजों में हड़ताल करने को कहना, राष्ट्र के बच्चों के पवित्र समय की हत्या है। अपवेशन करने का निसन्देह हर कार्यकर्ता को अधिकार है पर दुःख तो यह है कि अधिकार से पहिले जिस कर्तव्य का प्रचार होना चाहिये, उसका न

सोशलिस्ट प्रचार करते हैं, न कम्युनिस्ट, सब को किसी न किसी प्रकार राज्य सत्ता हथियाने की पड़ी हुई है, जिधर देखो अधिकार अधिकार अधिकार की पुकार पड़ी हुई है कर्त्तव्य कर्त्तव्य कर्त्तव्य की पुकार कहीं सुनाई नहीं देती।

वेतन वृद्धि

इन अपवेशनों (हड़तालों) का अवसान अन्त में जाकर वेतन वृद्धि में होता है, निसन्देह वेतन वृद्धि होनी चाहिये परन्तु उससे अधिक आवश्यकता है, वेतन के सदुपयोग की शिक्षा देने की, यदि आपने एक मजदूर का वेतन २५ से ५० करवा दिया, और उसने सारा वेतन सिनेमा अथवा शराब में व्यय कर दिया, तो उसकी वेतन वृद्धि क्या हुई। वेतन का सदुपयोग ही सच्ची वेतन वृद्धि है, परन्तु इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं, आज सोशलिज्म तथा कम्युनिज्म के नाम पर जिस घृणित भोगवाद का प्रचार हो रहा है, उसे देख कर कहना पड़ता है need का स्थान Greed ले रही है, कहने को तो वे कहते हैं From every one according to his capacity to every one according to his need.

अर्थात् हर मनुष्य से उसकी योग्यतानुसार काम लिया जाना चाहिये, तथा उसे प्रयोजनानुसार फल मिलना चाहिये, परन्तु प्रयोजन का स्थान तो तृष्णा ले रही है, प्रयोजन तो पूरा किया जा सकता है परन्तु तृष्णा तो सारे ब्रह्माण्ड का वैभव पाने पर भी एक मनुष्य की कभी पूरी नहीं हो सकती, इसलिए आवश्यक है, कि मनुष्यों को संतोष तथा संयम का भी पाठ सिखाया जाय, परन्तु, यहां तो रात दिन भोग, असन्तोष तथा ईर्ष्या का प्रचार किया जा रहा है भला कोई इनसे पूछे कि जब स्टालिनग्राड पर जर्मनी ने आक्रमण किया था, उस समय वहां के लोगों ने देश भक्ति के नशे में नाना प्रकार के कष्ट सहन करने में आनन्द अनुभव किया वा नहीं, सो वैसा आनन्द भारत की जनता जो चारों ओर शत्रुओं से घिरी हुई है क्यों न करे ? परन्तु ये दुरात्मा तो रात दिन अनाचार तथा उपद्रव का प्रचार करते हैं, वेतन वृद्धि वेतन वृद्धि रात दिन चिल्लाते हैं, किन्तु वेतन के सदुपयोग का कभी नाम नहीं लेते, और यदि कोई ले भी तो झट कहते हैं, कि क्या पूंजीपति धन का दुरुपयोग नहीं करते हम क्यों न करें। वह शराब पीता है, हम क्यों न पियें,

सो पूंजीपति का अत्याचार तथा दुराचार हटाने के स्थान में यह लोग सब में इसका प्रचार चाहते हैं Equal distribution of wealth के स्थान में Equal distribution of immorality.

भक्ति

इन महापुरुषों की सम्मति में प्रभु भजन अफीम के समान एक नशा है, जिसको संसार से मिटा देना चाहिये। मैं पूछता हूँ, कि क्या महात्मा गांधी अफीमची थे। उनसे बड़ा कर्मयोगी उनके जीवन काल में कौन हुआ, वह तो कभी आलसी बनकर नहीं बैठे, भेद केवल इतना ही है, कि वे अपने विरोधियों को भी मनुष्य समझते थे तथा उनकी अन्तरात्मा में छिपी हुई मनुष्यता को जागृत करने के लिये सदा प्रयत्नशील थे। यह शान्ति तथा उदारता उनमें प्रभु-भजन से आई थी। इधर कम्युनिस्ट के हृदय में सिवाय ज्वाला के कुछ नहीं, तब भजन को अफीम कैसे कहा जा सकता है, हाँ भक्ति-भक्ति में भेद है भक्ति दो प्रकार की हैं, एक हिसाब लेने वाली, दूसरी हिसाब देने वाली, जो मनुष्य हाथ पैर आँख, नाक, कान और सबसे बढ़कर मस्तिष्क इन शक्तियों को पाकर प्रभु के सामने कृतज्ञता से सिर झुकाता है, तथा प्रतिदिन सायं प्रात: उसके सामने बैठकर इन शक्तियों के सदुपयोग का हिसाब देता है, कि कहाँ तक मैंने इन शक्तियों का सदुपयोग किया, वह तो दिन पर दिन अधिक उत्साह सम्पन्न होता जाता है, वह तो एक ऐसे अपूर्व नशे से देदीप्यमान रहता है, जिसकी बराबरी हजार शराब की बोतलें नहीं कर सकतीं, फिर आनन्द की बात यह कि इस नशे में एक धेला भी व्यय नहीं होता जब चाहे जहाँ चाहे, प्राप्त करले, इसी नशे के बल से भारत की झोंपड़ियों में भक्त नानक और कबीर के पद इकतारे पर गाकर भारत के किसानों ने इतने दिन तक एक अपूर्व आनन्द का लाभ प्राप्त किया। आज जो लोग भारत को इस अमूल्य सम्पत्ति से वञ्चित करना चाहते हैं, वे क्या कर रहे हैं, वे स्वयम् नहीं जानते।

दूसरी भक्ति अफीम अवश्य है, वह भक्ति नहीं, भक्ति का विकृतरूप है, वह है हिसाब लेने वाली भक्ति, जिसमें भक्त लोग परमात्मा का नाम लेकर, फिर उससे हिसाब माँगते हैं, कि मेरे इतने वार लिये हुए नामों के बदले में तूने मेरे कितने पाप क्षमा किये। फिर अपने आप ही उसका नाम बम्भोले आदि रखकर कह देते हैं, कि तू तो झट से हमारे पाप क्षमा कर देता है, यह

भक्ति का बिगड़ा रूप अवश्य मानव-जाति के नाश का कारण हुआ है, तथा जिसका जितना खण्डन किया जाय थोड़ा है, परन्तु इस उलटी भक्ति से तङ्ग आकर, सच्ची भक्ति को नाश करना ऐसा है, जैसे जुकाम उत्पन्न होने पर, जुकाम की चिकित्सा करने के स्थान पर, नाक काट डालना।

भारत के कम्युनिस्ट

रूस में कम्युनिज्म की लहर उठी, लोग अत्याचार से पीड़ित थे, पहिले हल्ले में जब नई-नई शक्ति उनके हाथ में आई तो वे पागल हो उठे, परन्तु वे शीघ्र ही संभल गए, इसका पता इन बातों से लग सकता है।

१. वृद्धों का अनादर
२. परिवार का विघटन तथा व्यभिचार का प्रचार
३. तम्बकू पीना
४. शराब पीना
५. पाठशाला में बच्चों का शासन तथा अध्यापक की सत्ता का लोप
६. लड़के लड़कियों की सहशिक्षा
७. निरीश्वरवाद
८. देश से घृणा

रूस में जब बोलशेविक लोगों के हाथ में पहिले-पहिले सत्ता आई, तो उनमें क्या परिवर्तन हुए, सो इन आठों बातों के सम्बन्ध में जाँच करने से पता लग जायगा।

मौरिस हिन्डस अपनी पुस्तक मदर रशिया के पृष्ठ १०५ पर लिखते हैं।

Of the old values which after long submergence have again come to the surface, esteem and revrence for age is as moving as it is significant. The Russian word starik, old person, like the word perdki, ancestors. and the meaning that is now attached to both, signalise as dramatic a change in Russian thinking as the constant emphasis of the words Russia and Russian.

There was a time when the word starik was a term of opprobrium, almost disgrace.

उन पुरानी पूज्य वस्तुओं में से जो, बहुत काल तक घृणा के सागर में डूबे रहने के पश्चात् फिर ऊपर तैर आई है दो वस्तु जितनी ही हृदयद्रावक हैं, उतनी ही साभिप्राय हैं, वे दो वस्तु हैं, वृद्धों का आदर तथा वृद्धों की पूजा, रूसी शब्दस्तारीक अर्थात् वृद्धजन तथा वैसे ही प्रेदकी अर्थात् पूर्वज, और वह भावना जो आज इन शब्दों के साथ लगी हुई है, यह दोनों ही रूस की विचारधारा में, उस नाटकीय पट परिवर्तन के प्रतीक हैं, जो कि रूस तथा रूसी शब्द के वार-बार सादर प्रयोग में दृष्टिगोचर होता है।

एक समय था, जब स्तारीक (वृद्धजन) शब्द एक अधिक्षेप, यहाँ तक कि घृणा का शब्द बन गया था।

(इसी प्रकार रूस तथा रूसी भी घृणा का शब्द बन गया था)

Mother Russia P. 105

कुटुम्ब

रूस में बोलशेविक सत्ता के आते ही ऐसा प्रतीत होता था, मानों कुटुम्ब तथा दम्पती नाम की कोई वस्तु रहेगी ही नहीं।

It was easier to obtain a divorce then to buy a new pair of shoes-far easier.

उस समय पति-पत्नी का परस्पर तलाक प्राप्त करना बाजार से एक जोड़ा जूता खरीदने की अपेक्षा भी अधिक आसान था—कहीं आसान !

घरों में विचित्र परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती थीं।

रूस में उन दिनों मेरा एक मित्र एक हिन्दू लेखक अजीज आजाद था, (लेखक अमेरिकन है, अमेरिकन लोग हिन्दू शब्द का प्रयोग भारतवासी के अर्थ में करते हैं) मैं प्रायः उसे मिलने उसके घर जाया करता था, एक दिन सायंकाल को हम खिड़की में से मुँह निकाले खड़े थे, उसने सामने आँगन के परली ओर एक कमरे की ओर इशारा किया और वहाँ रहने वाले परिवार के विषय में एक अनोखी घटना सुनाई। उस परिवार का मालिक एक ५५ साल का बूढ़ा था, और जार के जमाने में एक बैंक का अधिकारी था। नई सरकार के जमाने में भी अपनी आर्थिक कार्य-कुशलता के कारण उसे एक उच्च वेतन का पद प्राप्त था। वह अपनी पत्नी तथा पुत्र के साथ एक दो कमरे वाले मकान में रहता था। एक बार गर्मी की छुट्टियों में पिता काकेशस पहाड़ की

यात्रा को चला गया, वहाँ उसका एक जार्जियन लड़की से मेल हो गया। वहीं वह उससे प्रेम करने लगा, प्रणय लीला बढ़ी, और अन्त में वह भी प्रेम-पाश में पड़ गई। अपनी पूर्व पत्नी को पता दिये बिना ही वह रजिस्ट्रेशन के दफ्तर में गया। वहाँ उसने तलाक प्राप्त कर लिया, और इस नई लड़की से विवाह कर लिया। रजिस्ट्रेशन के दफ्तर के क्लर्क ने नियमानुसार मास्को में पहली पत्नी को तलाक की सूचना भेज दी।

इधर छुट्टियाँ समाप्त हो रही थी। क्लर्क को सूचना भेजने में कुछ देर लग गई। यह नवीन दम्पति, तलाक की सूचना देने वाले पोस्टकार्ड से पहले मास्को जा पहुंचे। अन्त को वृद्ध महाशय ने स्वयं अपनी करतूत कथा कह सुनाई।

पहली पत्नी एक स्वाभिमानिनी स्त्री थी, वह वीरोचित ढङ्ग से उसी मकान में दूसरे कमरे में चली गई। लड़का इस पर बहुत झुंझलाया और वह भी अपनी माँ के साथ चला गया।

समय पाकर बाप बेटों में समझौता हो गया और बेटा पुराने बाप के घर आने जाने लगा थोड़े दिनों में वह नई सुन्दरी माँ इस बेटे से उलझ गई, वह उसके प्रेम-पाश में फंस गया, और वह उसके प्रेम-पाश में फँस गई, और एक रङ्गीले दिन दोनों घर से निकल गए, अब इस जार्जियन लड़की ने रजिस्ट्रेशन के दफ्तर में जाकर बूढ़े बाप से तलाक पा लिया, और जवान बेटे से विवाह कर लिया।

इस प्रकार अपना घर उजड़ा पाकर बुढ़ऊ फिर पहली पत्नी के पास पहुंचे। उन्होंने बहुतेरी अनुनय विनय की कि चल अपना पुराना घर बसाएँ। परन्तु उस मानिनी ने भी इस प्रस्ताव को घृणा पूर्वक, ठोकर मार दी और बूढ़े बाबा अपनी भूल पर हाथ मलते रह गए।

मदर रशिया २४९

परन्तु कुटुम्ब को उजाड़ने वाली यह प्रवृत्तियाँ देर तक टिक न सकी। मौरिस हिन्डस इसी पुस्तक के २४९ पृष्ठ पर लिखते हैं।

Divorce was tightened. The postal-card system of notifying a divorced husband or wife of the separation was outlawed and had been outlawed even before the Passage of the new law.

तलाक सम्बन्धी कानून बहुत कस दिया गया, विच्छिन्न पति व पत्नी को विवाह विच्छेद की सूचना पोस्ट-कार्ड द्वारा देने की प्रथा नियम विरुद्ध कर दी गई, और सच तो यह है कि कानून द्वारा नियम विरुद्ध घोषित होने के पहले ही लोक मत द्वारा बहिष्कृत की जा चुकी थी।

व्यभिचार

इसी पुस्तक के पृष्ठ २४८ पर लिखा है—

"So-called 'free love," said Pravda editorially, "and disorder in sexual life are completely bourgeois and have nothing in common with socialist principles nor with the ethics and rules of conduct of a Soviet citizen.

प्रवदा (रूस का मुख्य समाचार-पत्र) ने सम्पादकीय लेख लिखते हुए लिखा है, कि तथा कथित विश्रृङ्खल प्रेम और स्त्री पुरुषों की कामजन्य गड़-बड़ बिलकुल धनोन्मत्त पुरुषों के योग्य है, और समाजवादी सिद्धान्तों के साथ तथा सोवियत जीवन सदाचार तथा व्यवहार नीति के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, व्यभिचार की सुनिये।

मैंने एक कारखाने की पञ्चायत के नेता से एक बार पूछा, कि यदि तुम्हारी बिरादरी में कोई ऐसा युवक हो जो आज एक लड़की से, कल दूसरी लड़की से भोग का आनन्द लूटता हो, या लूटना चाहता हो तो तुम उसे क्या करोगे ? उत्तर मिला, हम उसे बिरादरी से निकाल देंगे, एक दूसरे पन्च ने कहा—

हम न केवल उसे बिरादरी से निकाल देंगे, हम सारी बिरादरी के सामने खुली सभा में उसकी दुर्गति करेंगे और समाचार पत्रों में उसकी खबर देंगे।

मदर रशिया २१९

अमरीका में जब कोई जघन्य रोग से ग्रस्त हो जाता है, तो उसकी चुप-चाप चिकित्सा कर दी जाती है, और सरकारी अस्पतालों में न उससे कुछ लिया जाता है, न पूछा जाता है, किन्तु रूस में ऐसे दुष्कर्म करने वाले को अपने साथी का नाम बताना पड़ता है, और जब तक वह न बताए उसकी चिकित्सा नहीं की जाती।

मदर रशिया २२०

अब तम्बाकू पीने के सम्बन्ध में लीजिए।

मौरिस हिन्डस जब पहले सन् १६२१ से ३० तक वहां रहे, उन दिनों रूस में लोग विशेष कर लड़कियें अपना कर्तव्य समझती थीं; कि खुले ग्राम सिगरेट पीएं, नहीं तो उनकी क्रान्ति को धब्बा लग जायगा, परन्तु सन् ४२ के पश्चात् जब वे वहां गये तो लिखते हैं कि—

yet smoking is markedly, almost sensationally on the decline

अर्थात् तम्बाकू पीने की आदत विलक्षण रूप से, सच कहिये तो आश्चर्य जनक रूप से मिट रही है।

मदर रशिया ७२

एक छोटे से कस्बे में जहां ४३ लड़कियें कालेज तथा हाई स्कूल की आयु की उपस्थित थीं मैंने पूछा आप में से कितनी सिगरेट पीती हैं।

उत्तर मिला एक नहीं !

फिर पूछा, कितनी सिगरेट पीना पसन्द करती हैं ? फिर उत्तर मिला, कि एक नहीं ! वे लिखते हैं।

Boys, too, smoke less than formerly.

लड़के भी अब पहिले से कम पीते हैं।

और इसका कारण है "पवित्रजीवन" का निरन्तर घोर प्रचार।

शराब का भी यही हाल है।

Drinking is much less prevalent.

शराब का प्रचार भी पहिले से बहुत कम हो गया है।

मदर रशिया पृष्ठ ७२

अब शिक्षा में परिवर्तन देखिए—

रूस में क्रान्ति के साथ ही शिक्षा पद्धति में भी प्रगति हुई। एरिक एशबी नामक आस्ट्रेलियन प्रोफेसर जो १६४५ में मास्को में आस्ट्रेलिया के वैज्ञानिक प्रतिनिधि थे तथा रूस की विज्ञान परिषद् की जयन्ती में आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधि दल में सम्मिलित थे। अपनी पुस्तक (Scientist in Russia) साइन्टिस्ट इन रशिया में लिखते हैं। बोल्शेविकों ने जब सत्ता छीनी उसके चार दिन बाद प्रकाशित होने वाले, ल्यूनाचार्स्की के विख्यात आज्ञा पत्र में जिस पर २६ अक्टूबर सन् १६१४ को हस्ताक्षर हुये। तथा जिसको एक वर्ष पश्चात् एक और आज्ञापत्र द्वारा विस्तृत किया गया, जिसमें ३२ धाराएं थीं। एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन किया था, जिसमें १० वर्ष की बाधित

शिक्षा थी। परन्तु न तो परीक्षाएं थीं, न कोई दण्ड, न कोई फ़ीस परस्पर सहयोग द्वारा प्रबन्ध होता था, तथा लड़के लड़की साथ पढ़ते थे।

सन् १९३१ तक यही प्रणाली चली When the lessons of other countries were ignored; discipline was neglected; the pupils were supposed to govern the school, the teachers did as they liked. जिसमें दूसरे देशों के अनुभवों की अवहेलना की गई, अनुशासन की उपेक्षा की जाती थी, पाठशाला के विद्यार्थियों का राज्य था और अध्यापक, जो सूझता, सो करते थे।

साइन्टिस्ट इन रशिया पृष्ठ ४३, जुलाई १९४३

सन् १९३१ में श्रीयुत् ब्यूवनोव शिक्षा विभाग के अध्यक्ष हुये, शिक्षा पद्धति में एकदम काया पलट हुई।

Knowledge was taught as separate subjects with rigid, prescribed, curricula. Discipline was restored. Fees were introduced for the eighth, ninth and tenth classes. And, most recently, co-education was abandoned.

विद्या, निश्चित पाठ्यक्रम के साथ पृथक्-पृथक् विषयों में पढ़ाई जाने लगी। अनुशासन फिर सत्तारूढ़ हुआ अष्टम, नवम, तथा दशम श्रेणी में फिर फीस ली जाने लगी, तथा कुछ दिन हुये, लड़के लड़कियों की सह-शिक्षा उड़ा दी गई, अब आज कल शिक्षा के सम्बन्ध में विचार क्या हैं।

The soviet school must be distinguished from any other school primarily by its strict discipline, becaue the higher the human society for which the school is preparing young people, the firmer the discipline must be. The regulations in supvorov schools, where punishment goes as far as the detention cell, have been accepted by teachers.

Soviet education requires inflexible strictness and exactness on the part of the teacher.

सोवियट स्कूल तथा अन्य देशों के स्कूलों में जो मुख्य भेद होना चाहिए, वह है, कड़ा अनुशासन, क्योंकि जो पाठशाला विद्यार्थियों को जितने ऊँचे मानव-समाज के जीवन के लिए तंय्यार करती है, उसका अनुशासन भी उतना ही कड़ा होना चाहिये।

सुवराव नामक पाठशालाओं के नियमों में तो विद्यार्थियों को कोठरियों

में कैद करने तक का दण्ड दिया जाता है, और इन नियमों को अन्य· अध्यापकों ने भी स्वीकार कर लिया है।

सोवियट शिक्षा प्रणाली शिक्षकों से अनन्य कठोरता तथा यथार्थता की आशा करती है।

(साइन्टिस्ट इन रशिया, जुलाई १९४६, पृष्ठ ४५)

आगे चलकर एशबी महोदय पृष्ठ ४६ पर लिखते हैं।

The new discipline included stringent measues the raise the moral level of children outside school hours. Children under 16 are forbidden to visit cinemas or theatres on school days except with special permisition, which is given as a reward for proficiency and good conduct, and on no occasion are they allowed to visit cinemas or theatres except the company of a teacher, a pioneer-leader, or some other adult. In Moscow childern under 16 are forbidden to stay on the streets 10 p. m. except in the company of adults. Parents are reminnded that they can not leave the responsibility for enforcing discipline on their children to the school-teacher alone. It is part of a parent's responsibilty to look after the upbringing of children.

रूस की पाठशालाओं में जो नया अनुशासन प्रचलित हुआ है, उसमें पाठशाला के घण्टों के पश्चात् के समय में विद्यार्थियों का चरित्र स्तर ऊँचा उठाने के लिये कठोर शासन सम्मिलित है! सोलह वर्ष से कम आयु के बालक छुट्टी के दिन के अतिरिक्त, बिना विशेष आज्ञा के, सिनेमा अथवा नाटक शाला में नहीं जा सकते, और वह विशेष आज्ञा भी विशेष परिश्रमी बालकों को उनकी कुशलता के पारितोषिक रूप में दी जाती है, और बिना अध्यापक के, किसी विद्यार्थी नेता के, अथवा किसी और बड़ी आयु के पुरुष की देख-रेख के, किसी अवस्था में सिनेमा अथवा नाटक शाला में नहीं जा सकते। मास्को में १६ वर्ष की आयु से कम आयु वाले बालक रात्रि को १० बजे के पश्चात् बिना किसी बड़े की देख-रेख के, गलियों में नहीं घूम सकते। माता-पिता को बराबर याद दिलाया जाता है, कि वे बच्चों को अनुशासन में रखने का उत्तरदायित्व केवल-मात्र अध्यापकों पर नहीं छोड़ सकते।

बच्चों की शील शिक्षा की ओर ध्यान देना माता-पिता के उत्तरदायित्व का एक मुख्य भाग है।

इसमें Out isde school hours अर्थात् पाठशाला के घण्टों के पश्चात् यह शब्द बहुत ध्यान देने योग्य हैं। क्या रूस बड़े वेग से "गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली" की ओर नहीं बढ़ रहा ? यद्यपि अभी तक विद्यार्थियों का परिवार से हटकर गुरु के कुल में अन्तेवासी बनने का, तथा विधि पूर्व अविद्या, अन्याय, अथवा अभाव के विरुद्ध युद्ध दीक्षा का अर्थ उन्हें समझना शेष है।

सहशिक्षा

अब जरा यह भी सुनिये कि रूस ने लड़के लड़कियों की सह-शिक्षा क्यों बन्द की।

The introduction of separate education of the sexes wil give the opportuuity for turniug our youth into purposeful and hold people, capable of becoming good and able soldiers.

लड़के लड़कियों की पृथक् शिक्षा का प्रचलित करना हमारे नवयुवकों को स्थिर उद्देश्य तथा साहसी मनुष्य बनने का अवसर देगा जिससे वे अाम सिपाही बनने के योग्य हो जावें।

सच कहिए, आप रूस का वर्णन पढ़ रहे हैं अथवा मनुस्मृति या सत्यार्थ-प्रकाश।

निरीश्वरवाद

रूस में निरीश्वरवाद का भी खूब प्रचार हुआ जो मनुष्यों को आलसी तथा भाग्यवादी बनाने वाला झूठा ईश्वरवाद रूस में प्रचलित था उसके विरुद्ध आन्दोलन होना स्वाभाविक ही था, परन्तु ईश्वर का सच्चा स्वरूप एक दिन इसी संसार के सामने आए बिना नहीं रह सकता इस सम्बन्ध में यह समाचार उस आने वाले युग के पूर्व लक्षण के रूप में आस्तिकों का उत्साह बढ़ाये बिना नहीं रह सकता।

Since the coming of the war, atheist propaganda publications have been banned.

मदर रशिया २११ पृष्ठ

युद्ध आरम्भ होने के पश्चात् नास्तिकवाद के प्रचार की पुस्तकों का प्रकाशन बन्द कर दिया गया है, इस सम्बन्ध में पण्डित जवाहर लाल

नेहरू की पुस्तक (Discovery of India) के एक प्रसङ्ग आने वाले युग का सूचक है, इस पुस्तक के पृष्ठ ४५३ पर पं० जवाहर लाल जी लिखते ह—

Whether we believe in God or not, it is impossible not to believe in something, whether we call it creatire life giving force. or vital energy inherent in matter which gives it its capacity for self movement and change and growth, or by some other name, something that is as real, though elusive, as life is real when contrasted with death.

साथ ही यह भी लिखा है।

Some faith seems necessary in things of spirit which are beyond the scope of our physiclal, wold some reliane on moral, spiritual and dealistic coneptions, or else we have no anchorage, no objectives or purpose in life.

इनका अनुवाद इस प्रकार है—

हम परमात्मा में विश्वास करें, या न करें, किन्तु हम किसी ऐसी महासत्ता में विश्वास किये बिना नहीं रह सकते, इसका नाम चाहे जीवनोत्पादनी सृष्टिकारिणीशक्ति रख लें, अथवा प्रकृति में निहीत प्राण-शक्ति रखलें जो उसमें स्वयं परिवर्तन वृद्धि तथा स्वयङ्गति की योग्यता उत्पन्न करती है। अथवा इसका कोई और नाम रखलें परन्तु वह सत्ता चाहे अनिवर्चनीय हो, परन्तु है इतनी ही परमार्थिक जितना मृत्यु के विरोध में जीवन आवश्यक—

हमारी इस भौतिक दुनिया की पहुँच से परे किन्हीं आध्यात्मिक शक्तियों में विश्वास अनिवार्य है, अनिवार्य है विश्वास नैतिक आध्यात्मिक तथा आदर्शवादी विचारों में, नहीं तो हमारा जीवन बिना लङ्गर का जहाज हो जाता है, जीवन में कोई लक्ष्य नहीं रहता, यह एक उद्देश्य मुख्य पथ बन जाता है।

एक उद्धरण उनके आत्मचरित्र से भी लीजिये !

These myths have often come to my mind when I have watched the amazing energy and inner power of Gandhiji coming out of some in exhausitible spiritual reservoir. He was obviously not of the world's ordinary coinage, he was minted of

a different and rare variety and often the unknown stand at us through his eyes"

page 253-54
Autobiography
of Jawahar Lal Nehru.

पौराणिक तपस्वियों के कठोर तप की कथाओं की ओर निर्देश करते हुए जवाहर लाल नेहरू अपनी जीवनी में लिखते हैं—

"मैं जब कभी गांधी जी की आश्चर्यजनक कार्यशक्ति तथा आत्मिक—बल को देखता था तो यह पौराणिक गाथाएं स्मृति के सामने आ खड़ी होती थीं, यह आत्मशक्ति मानो किसी अध्यात्मबल के अखूट भण्डार से निकल कर आ रही हो, सच है कि वह संसार की साधारण टकसाल में नहीं घड़े गए थे, उनकी रचना किसी और ही टकशाला में हुई थी और वह किसी अनोखी तथा दुर्लभ रचना के फल थे, बहुधा हमें ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई अज्ञेय उनकी आँखों के द्वारा हमें आंखें गड़ा कर देख रहा हो।"

जवाहर लाल
आत्मचरित,

स्पष्ट है, कि इस संसार में बहुत से लोग ईश्वर का नाम इसलिए नहीं लेते, कि कहीं लोग ईश्वर-ईश्वर करते-करते आलसी न हो जावें, परन्तु यह जवाहर लाल आदि लोग यदि महात्मा गांधी से शिक्षा लेते, तो भारत का इतिहास शीघ्र ही बदल जाता, खैर जवाहरलाल कुछ कहें भक्ति परायण भारत को, भगवान् से कोई अलग नहीं कर सकता। उल्टा भारत की भक्तिमयी गङ्गा इस सूखे संसार को हरा करके रहेगी।

देशभक्ति

विचित्र बात है, कि क्रान्ति के आरम्भ काल में रूसी लोग, हर रूसी वस्तु, यहाँ तक कि रूस देश के नाम से भी घृणा करने लगे थे, अब वह युग आया है, कि संसार के हर आविष्कार का जन्म दाता रूस है, यह सिद्ध करने का यत्न किया जा रहा है कि पीटर-महान् तथा इवान भयङ्कर जैसे ज़ार आज रूस के रङ्ग मंच पर तथा चलचित्रों में देश-भक्ति के पाठ पढ़ाने का केन्द्र बन रहे हैं।

इन सब घटनाओं से यह पता लगता है, कि भारत के कम्यूनिस्ट रूस के कम्यूनिस्टों के बिलकुल भिन्न तत्व के बने हैं।

प्रगतिशील साहित्य

इसका पता हमारे देश के प्रगतिशील साहित्य से लगता है, इस शब्द के आदि प्रचारक यदि मैं भूल नहीं करता, तो स्वनाम धन्य श्री प्रेमचन्द जी थे, यदि आज प्रेमचन्द आकर देखें, कि उनके इस शब्द का कितना दुरुपयोग हो रहा है, तो कदाचित् रो दें, प्रेमचन्द के कोष में प्रगतिशील-साहित्य का अर्थ था, दरिद्र नारायण के साथ सच्ची सहानुभूति। चरित्र की उपासना, चाहे वह झोंपड़ी में हो, चाहे महल में, परन्तु वर्तमान प्रगतिशील साहित्य को तो दुर्गति-शील-साहित्य कहना होगा, यदि विश्वास न हो तो कम्यूनिस्ट लेखकों के शिरोमणि श्री यशपाल की धर्मरक्षा अथवा प्रतिष्ठा का बोझ नामक कहानियाँ पढ़लें हमें इन कहानियों में सिवाय हमारी संस्कृति की पवित्र भावनाओं के बीभत्स उपहास के कुछ नहीं, इससे पता लगता है, कि भारत में कम्यूनिज्म उन गन्दे और स्वार्थी लोगों के हाथों में पड़ गया है, जिनसे रूस अपना पिण्ड छुड़ा चुका है, इन प्रगतिशील लेखकों को रूस के वान्ताशी कहना होगा। क्योंकि जो रूस ने वमन कर दिया, वह यह लोग खा रहे हैं। भारत के कम्यूनिस्ट तो त्रिशिरा राक्षस हैं, एक मुंह से मजदूरों से चन्दा करके खाते हैं, दूसरे मुंह से मिल मालिकों को धमका कर पैसा वसूल करते हैं, तीसरे, रूस से पैसा मंगा कर खाते हैं, और बदले में देते हैं, शराब पीना, पवित्र भावनाओं की खिल्ली उड़ाना, व्यभिचार का प्रचार तथा उद्दण्ड जीवन। परन्तु जिस प्रकार रूस में यह लहर उठकर भाग गई, उसी प्रकार यहाँ तो यह उठने भी नहीं पाएगी, क्योंकि जहाँ तक पूंजीपति के अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह तथा गरीबों की रक्षा का प्रश्न है, वहाँ तक तो भारत के नेता सदा से ही सतर्क रहे हैं, और इन दोनों बातों के लिये पूरा उद्योग करते रहे हैं, परन्तु शेष जो गन्दगी का प्रचार है, उसे भारत कभी न अपनाएगा।

यहां हमें एक शब्द अपनी वर्तमान सरकार से भी कहना है, हमारी सरकार भी कम्यूनिज्म के इस गन्दे रूप को जिन्दा रखने के लिये उत्तरदायी है, सत्ता के नए लोभ में वह पवित्र त्याग की भावना क्षीण हो गई, जिसे लेकर महात्मा गान्धी आये थे, सो सरकार याद रक्खे, कि यदि वह न चेतेगी, तो भारत माता की कोख से सैकड़ो तपस्वी जन्म लेकर उस विलासिता की भावना को भस्म कर देंगे। जिसे सरकार के वर्तमान कर्मचारी अपने घृणित स्वार्थमय विलासी जीवन से स्थिर रख रहे हैं, और जो उन्होंने

ब्रिटिश नौकरशाही से सीखी थी, यदि वे भ्रष्टाचार नहीं छोड़ेंगे, तो सरदार पटेल की वकालत भी उन्हें नहीं बचा सकेगी, परन्तु इन भावनाओं का स्थान भारत का सदाचार लेगा, न कि भारतीय कम्यूनिज्म का दुराचार और अत्याचार, भारतीय संस्कृति में हिंसा और अहिंसा दोनों को ही ब्राह्मण और क्षत्रिय के रूप में स्थान मिला है, परन्तु भारतीय कम्यूनिज्म में तो हिंसा और उसके भी घृणित रूप प्रतिहिंसा के सिवाय किसी भावना को स्थान ही नहीं, इसलिये भारत में कम्यूनिज्म विशेषकर उसका यह विकृत रूप, जिसका अलग प्रचार हो रहा है, कभी नही पनप सकता।

समन्वय

जिस संस्कृति को हम संसार में लाना चाहते हैं, उसमें हिंसा और अहिंसा का ठीक समन्वय है, समन्वय का अर्थ थोड़ी हिंसा और थोड़ी अहिंसा इस प्रकार का समझौता नहीं हैं। समन्वय और समझौता बिल्कुल भिन्न वस्तु हैं, समन्वय का अर्थ है, दो विरोधी तत्वों का उचित स्थान में प्रयोग। उदाहरण के लिये, हिंसा और अहिंसा को लीजिये, इस संसार में तीन प्रकार के मनुष्य हैं, एक वे जो प्रेम करते हैं। एक वे जो प्रेम के वशीभूत होकर अपने आत्मा का सुधार करते हैं, एक वे प्रेम करने से बिगड़ते हैं, यह तीसरी प्रकार के मनुष्य हैं, जिनके लिये क्षत्रिय धर्म की आवश्यकता होती है, यही हिंसा और अहिंसा के समन्वय का रूप है, ब्राह्मण प्रथम श्रेणी के लाग वे मनुष्य समाज के प्रेम से सुधारने का यत्न करते हैं। मनुष्य समाज का बहुत बड़ा भाग इसी प्रकार सुधरता है, किन्तु एक श्रेणी ऐसी भी है, जो जितना उनसे प्रेम किया जाय, उतना ही बिगड़ती हैं अहिंसकों को उल्लू तथा भीरु समझती है, उनकी उदारता का पेट भर के दुरुपयोग करती हैं, इस प्रकार इस तीसरी श्रेणी का नियन्त्रण क्षत्रिय-धर्म का क्षेत्र है, यह क्षेत्र भेद ही समन्वय का तत्व है, हिंसा अपने क्षेत्र में काम करे, अहिंसा अपने में।

वर्ग रहित समाज

इसी समन्वय के समझने से वर्तमान युग के एक ओर मिथ्या विश्वास की पोल खुल जाती है। वर्तमान युग के नारों में एक नारा है वर्ग रहित समाज अर्थात् Classless Society अन्याय के आधर पर किये हुए, अवैज्ञानिक जन्म परम्परागत, वर्गीकरण को हटा कर, ठीक गुणों पर आश्रित वैज्ञानिक

वर्गीकरण तो एक वांच्छनीय ध्येय है, जिसके लिए कोई जिये या मरे यह समझ में आ सकता है, परन्तु वर्ग रहित समाज जैसी असम्भव वस्तु में तो आँख मूंद कर ही विश्वास किया जा सकता है, आँख खोल कर नहीं एक ओर तो यह लोग विकासवाद का दम भरते हैं, दूसरी ओर वर्गरहित समाज का नारा लगाते हैं, वर्गरहित समाज ऐसी ही वस्तु है, जैसे अङ्गरहित जीव यथा अमीवा, ज्यों ज्यों ऊंचे स्तर के जीवन को देखते हैं, हर काम के लिए अलग अंग पाते हैं, यहाँ तक कि मनुष्य के मस्तिक में तो प्रेम, द्वेष, घृणा हास्य, वात्सल्य, त्याग संयम सब भावनाओं के लिए पृथक् केन्द्र हैं।

आज कल सब सुधारक लोग चिल्ला रहे हैं कि न्याय विभाग तथा प्रबन्ध विभाग दोनों पृथक् रहने चाहियें, दोनों के लिये शिक्षा दीक्षा, विनीति, मर्यादा सब पृथक् होगी, न्याय विभाग तथा पुलिस की शिक्षा एक प्रकार की नहीं हो सकती, न्यायाधीश को शिक्षा दी जाती है, कि वह सबको निरापराध समझे, जब तक अपराध सिद्ध न हो। पुलिसवालों में यदि सन्देह शीलता न हो, तो वे चोर पकड़ ही न सकें, हां कर्त्तव्य पालन ईमानदारी आदि गुण दोनों में समान हैं। वह सामान्य और विशेष दोनों ही धर्म उनकी शिक्षा में आवश्यक हैं, फिर जब विशेष धर्म की विशेष शिक्षा दी जायगी, तो एक विशेष वर्ग स्वयं बन जायगा। इसी प्रकार राष्ट्र में उपदेश-विभाग तथा दण्ड विभाग दोनों ही पृथक् होने आवश्यक हैं, उपदेशक का शस्त्र प्रेम तथा तर्क हैं दण्ड विभाग का शस्त्र है दण्ड, दोनों काम एक ही मनुष्य करेगा तो दोनों ही अधूरे रह जावेंगे। इसीलिये प्रेम पूर्वक तर्क द्वारा जनता के विचारपरिवर्तन करने वाला ब्राह्मण वर्ग, तथा असाध्य दुष्टों का दण्ड द्वारा दमन करने वाला क्षत्रिय वर्ग, दो वर्ग अवश्य बनाने पड़ेंगे। यदि ब्राह्मण वर्ग अपने प्रेम की सीमा स्वयं निर्धारित करने लगेगा, तो वह सीमा दिन पर दिन छोटी होती जायगी। इसलिये ब्राह्मण को तो सदा यही प्रयत्न करना चाहिए, कि यदि कोई दुष्ट नहीं सुधरा, तो उससे एक बार फिर और अधिक प्रेम करे। ब्राह्मण के प्रेम की "अन्तिमवार" कभी नहीं आ सकती। परन्तु क्षत्रिय यह देखता है कि ब्राह्मण सफल नहीं हो रहा, यह रोगी असाध्य है, तो वह दण्ड का प्रयोग करता है, यदि असाध्य साध्य का निर्णय ब्राह्मण पर ही छोड़ दिया जायगा, तो वह अपनी अयोग्यता को असाध्यता की आड़ में छिपाने का यत्न करने लगेगा। जान बूझ कर ऐसा यत्न न भी करे, तो अनजाने में ऐसा होने लगेगा। इसी-

लिये इन दोनों वर्णों का पृथक् होना अत्यावश्यक है। इसी प्रकार आर्थिक उत्पादन में सञ्चालक तथा सञ्चालित दो वर्ग आवश्यक हैं इनमें झगड़े भी होने आवश्यक हैं। उनका निर्णय कोई ऐसा ही वर्ग कर सकता है जो दोनों से पृथक् होने के कारण, पूर्णतया निष्पक्षपात हो, ऐसे ही वर्ग ब्राह्मण, तथा क्षत्रिय वर्ग हैं। उन दोनों का आर्थिक उत्पादन में स्वार्थ न होना आवश्यक है। तब ही तो वे निष्पक्षपात न्याय कर सकेंगे। भेद केवल इतना है, कि ब्राह्मण झगड़ों को उत्पन्न न होने देने का विशेष ध्यान करता है। क्षत्रिय उत्पन्न होने पर झगड़ों को शान्त करता है, और शान्तिरक्षा के लिये यथोचित दण्ड बल का भी प्रयोग करता है, इसीलिये संसार का कल्याण उचित वर्गीकरण में है, न कि वर्गलोप में, इसलिये वर्ग-रहित समाज केवल आत्म-वञ्चना मात्र है, ऐसा समाज न कभी हुआ, न होगा।

ब्राह्मण की विजय यात्रा

मनुष्य स्वभाव से वीर रस का पुजारी है। जो स्वयं वीर नहीं है, वह वीर की पूजा अवश्य करता है, और कम से कम कल्पना में तो अपने आप को वीर ही देखना चाहता है, चाहे वास्तविक जीवन में वह ऐसा न कर सके। इस वीर रस का पूर्ण विकास होता है आक्रमण में, किन्तु आक्रमण का अर्थ है नाश। आक्रमण जब अपना पराक्रम दिखाएगा, तो किसी का नाश अवश्य होगा, और शायद आक्रान्ता-आक्रान्त दोनों का ही नाश हो जाय, तब क्या करें आक्रमण की भावना को ही संसार से निर्मूल कर दें? तब तो वीर रस ही संसार से लोप हो जायगा, तब इस संसार में जीने का कुछ अर्थ ही नहीं रहेगा, तब तो यह उचित है, कि संसार के सब लोग एक निश्चित दिन पर इकट्ठे होकर विष पान करके आत्महत्या करलें जिससे धरती माता का भार हल्का हो, दूसरी ओर आक्रमण की भावना को खुली छूट देने से परस्पर हत्या करके संसार श्मशान-भूमि बन जायगा, इसलिये आवश्यक है, कि कोई समन्वय का मार्ग ढूंढ़ा जाय, आक्रमण की भावना भी बनी रहे, तथा हत्या भी न मचे, यह उपाय है ब्राह्मण की सांस्कृतिक विजययात्रा इसमें, आक्रान्ता तथा आक्रान्त, विजेता और विजित, दोनों निहाल होते हैं और पराक्रम की भावना भी बनी रहती है, फिर साथ ही इसमें यह चमत्कार और है, कि इसमें एक ही समय वही मनुष्य आक्रान्ता और आक्रान्त, विजेता और विजित, दोनों बना रह सकता है। उदाहरण के लिये मान लीजिये, दो पड़ोसी राष्ट्रों

में से एक में पितृ-भक्ति पाई जाती है, दूसरे में दम्पती का परस्पर सच्चा प्रेम पाया जाता है। दोनों ने एक ही समय एक दूसरे पर आक्रमण किया, एक ने अपने पवित्र जीवन से दूसरे को पितृ-भक्ति सिखा दी, दूसरे ने दम्पती प्रेम सिखा दिया, दोनों ही आक्रान्ता हैं, दोनों ही आक्रान्त हैं, दोनों ही विजेता हैं, दोनों ही विजित हैं, दोनों ही निहाल हैं। यह पवित्र विजय यात्रा प्राचीन इतिहास में शतपथ ब्राह्मण काल में गौतम राहू गण ने की थी, इसी की पुनरावृत्ति अशोक के धर्म चक्र में हुई थी, और संसार के सभी विद्वानों ने अविद्या के दूर करने के लिये यही विजय यात्रा की, इसमें गेलिलियो, सुकरात, दयानन्द जैसे अनेक विद्वानों की आहुतियाँ भी पड़ीं, यही विजय यात्रा है, जो भविष्य के नौजवानों के वीर रस का केन्द्र होगी, परन्तु यह याद रहे, इस विजय यात्रा में शस्त्र प्रेम तथा तर्क दोनों होंगे, घृणा तथा हिंसा नहीं।

चक्रवर्ती राज्य

फिर प्रश्न उठता है, कि तब क्या भविष्य में क्षत्रियों के वीररस को कोई स्थान न रहेगा, इसका उत्तर है, कि ऐसा हो भी जाय तो क्या हानि है यदि संसार में कोई दुष्ट न रहे, तो क्षत्रियों के लिए इससे बड़ा उत्सव कारण और क्या हो सकता है, परन्तु अभी तो सुदूर भविष्य में आँख फाड़कर देखने से भी ऐसा समय दिखाई नहीं देता, जब तक संसार में ऐसे लोग उपस्थित हैं, जो राष्ट्रों का परस्पर कलह उत्पन्न करके अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं, जब तक सारे मानव राष्ट्र में एक सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की व्यवस्था नहीं हो जाती, और जब तक वह व्यवस्था, ऐसे दुष्टों का बीज नाश नहीं कर देती, जो ब्राह्मणों के पवित्र प्रेममय उपदेश द्वारा किसी प्रकार भी सुधारे नहीं जा सकते, तथा जो अपनी स्वार्थ पूर्ण हिंसामय दुष्ट प्रवृत्तियों से सारे मानव-समाज के सर्वनाश में तत्पर हैं, तब तक तो क्षात्र-धर्म के वीर रस का अपना अलग क्षेत्र बना ही रहेगा, हाँ भेद केवल इतना होगा, कि संसार भर के राष्ट्रों के सच्चे वीर, झूठी देश-भक्ति के नाम पर, एक दूसरे का गला काटना छोड़ कर, परस्पर सहयोग से संसार भर के दुष्टों के नाश में तत्पर होंगे, और इस प्रकार विश्वराष्ट्र की सेवा में परस्पर होड़ लगाकर अपने-अपने राष्ट्रों का नाम भी उज्ज्वल करेंगे। यही सच्ची देश भक्ति है। यह घृणित उपायों द्वारा स्वदेशोन्नति, देशभक्ति नहीं, देश मोह है। इस देश मोह तथा

देश भक्ति के भेद स्पष्ट रूप से समझने में ही संसार का उज्ज्वल भविष्य छिपा हुआ है। वह दिन आ रहा है, संसार के वीर नवयुवको ! वह दिन आ रहा है और बड़े वेग से आ रहा है, जिस दिन धरती माता के यह सब खण्ड एक होंगे, यह सैकड़ों मातृ-भूमियाँ एक भूमि-माता में विलीन होंगी, वन, पर्वत, समुद्र, कोई मानव को मानव से दूर न कर सकेंगे, और मानव-धरती पर प्राणि मात्र का सेवक होगा। इसी के लिए मानव सर्ग के मधुर जन्मकाल में गाने वालों ने गाया।

एता देव सेनाः सूर्य केतवः सचेतसः अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा,

अथर्व ५।२१।१२

उठो वीरो ! देव सेना की अगवानी करो।

यह सूर्य का झण्डा लिये देव सेना एकत्रित होकर हमारे शत्रुओं पर जय प्राप्त करे।

———

वर्ण-व्यवस्था के चार सूत्र

गणाद् गुणो गरीयान्

गोल पहिया बनाने के लिये एक छड़ के दो विरोधी छोरों को झुका कर एक स्थान पर इकट्ठा करना पड़ता है, यही नियम संसार के चक्र पर भी लागू है । व्यक्ति और समाज, आदर्श-व्यवस्था के दो छोर हैं। सृष्टि के आरम्भ से इन में झगड़ा चला आया है, और सदा ही इनके मिलाने का यत्न होता रहा है । वैदिक साहित्य में इन दो विरोधी तत्वों को त्वष्टा और इन्द्र का नाम दिया गया है । यह बात कदाचित् "वदतो व्याघात" सी दीखती है, किन्तु है यह पूर्ण सत्य कि समाज जितने कठोर से कठोर नियम बनाता है, सो इसीलिए कि समाज के अधिक से अधिक व्यक्ति अधिक से अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें। यदि चोर को टिकटिकी पर बांध कर बेंत लगाई जाती हैं, तो इसलिए, कि समाज के दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति स्वच्छन्दता से जहाँ चाहें अपने पदार्थ रख सकें। और कोमल से कोमल किशोरी सड़क पर निःशङ्क सोना उछालती जाय ।

समाज यदि नवयुवकों को आँखें नीची करके चलने का बन्धन लगाता है, तो इसलिये, कि सहस्रों लजीली बालाएँ अपने चारों ओर आँख ऊंची करके प्रकृति का सौन्दर्य देख सकें। जब कभी व्यक्तिवाद अपनी मर्यादा का उल्लंघन करता है तो उसका नाम भोगवाद अथवा वृत्रासुर रख दिया जाता है। जब कभी समाज व्यक्तियों के कल्याण के लिये इतने कठोर नियम बना देता है, कि उनसे रक्षा होने के स्थान में विकास बन्द हो, और दम

घुटने लगे, तो इसे समाज का अत्याचार कहा जाता है, इन दो छोरों के मिलाने से जो अवस्था उत्पन्न होती है, उसका नाम है व्यवस्था, अर्थात् जिसमें बन्धन हो, किन्तु रक्षा करने वाला हो, दम घोटने वाला नहीं। समाज ने जितनी भी व्यवस्था आज तक बनाई हैं, उन सब का ध्येय एक ही रहा है, दूसरों के अधिकारों को नियन्त्रित करने का अधिकार श्रेष्ठतम मनुष्यों के हाथ में देना, उन मनुष्यों के हाथ में देना, जो व्यक्तियों का हित करना चाहते भी हों, और जानते भी हों। चुनाव, नामजदगी, बपौती, परीक्षा, मुकाबिला, यह सब इसी बात के साधन हैं, कि श्रेष्ठतम मनुष्यों के हाथ में अधिकार हों। चुनाव के मानने वाले कहते हैं, कि बहु-पक्ष द्वारा चुने हुए मनुष्य अपने अधिकारों का सदा सदुपयोग करते हैं, इसलिए यही ठीक उपाय है। नामजदगी वाले कहते हैं, कि राजा द्वारा नामजद किया हुआ मनुष्य न्याय करने में निःशङ्क रहता है, इसलिये, वह अधिकारों का सदुपयोग करेगा। बपौती के मानने वाले कहते हैं, कि भाई खानदानी खानदानी ही होता है, उसके इन्साफ की बराबरी कौन कर सकता है। परीक्षा वाले कहते हैं, कि चुनाव वाले क्या पहिचाने कौन कैसा है, नामजदगी में राजा अपने पिट्ठू भर लेगा। बपौती तो है ही लोगों को आलसी बनाने के लिये। इसलिये परीक्षा होनी चाहिये, जो परीक्षा में पार हो वही अधिकारों का सदुपयोग कर सकता है।

इन सब के मतभेद में इतनी बातें अवश्य स्पष्ट हो जाती हैः—

(१) समाज की भलाई के लिये व्यक्ति के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना अनिवार्य है।

(२) समाज दो भागों में अवश्य विभक्त होगा एक अधिकारी, दूसरे अधिकृत।

(३) अधिकारी वे होने चाहियें, जो अधिकार का सदुपयोग करें।

अब यदि मतभेद है, तो इस विषय में है, कि अधिकारी की पहचान कैसे की जाय। किन्तु अधिकारी और अधिकृत मनुष्य-जाति के यह दो विभाग सर्व वादि सम्मत हैं। अधिकारी का अर्थ है, जिसे दूसरों की स्वतन्त्रता पर, समाज-हितकारी बन्धन लगाने का अधिकार हो। फिर जब समाज के यह दो भाग आवश्यक हैं, जिनमें एक बन्धन लगावे, दूसरा माने, इस अवस्था में समानता अथवा साम्यवाद कोरा ढकोसला है, चाहे आप

चुनाववादी हों, चाहे नाम निर्देशवादी हों, चाहे वपौतीवादी हों, चाहे परीक्षा वादी हों। आप साम्यवादी कभी नहीं हो सकते, साम्य कोरा दम्भ है, निरा ढोंग है, अपने आप को तथा सारे संसार को धोका देना है। यह बकवाद है—साम्यवाद नहीं। संसार में सब एक समान न कभी हुए, न हैं, न होंगे। जो अधिकार का सदुपयोग करने वाले हैं, वह अपने गुणों के कारण सदा बड़े कहलाते है, और कहलाएंगे। इसलिये वर्ण-व्यवस्था का पहिला सूत्र है—

गणाद् गुणो गरीयान्

गण से गुण का दर्जा बड़ा है।

Quality not Equality.

वर्ण-व्यवस्था का दूसरा सूत्र है—

वर्गसहयोगो न तु वर्गविरोध

समाजवादियों का कहना है, कि वे वर्गहीन समाज का निर्माण करने चले हैं। यह बिलकुल आत्म वञ्चना है। जो वर्ग ऊपर हमने बताये हैं, उनसे रहित समाज कभी हो नहीं सकता। कुवर्ग का नाश करके सुवर्ग की स्थापना तो हो सकती है, और होनी भी चहिए, किन्तु वर्ग-हीन समाज तो कोई ऐसा ही मनुष्य मान सकता है, जो अन्ध-विश्वास में फंस कर समाजवादियों की हां में हां मिला दे, और अपनी विचार-शक्ति पर बिलकुल ताला लगा दे। अभाव, अन्याय और अविद्या मनुष्य जाति के यह तीन शत्रु सारे मनुष्य-समाज के दुःख की सृष्टि कर रहे हैं। इस दुःख से लड़ने के लिये, यह तीन वर्गों की सेना एक झण्डे के नीचे इकट्ठी होगी, और इसलिये यह तीन वर्ण-अवश्य ही बनाने पड़ेंगे। अपने गुणों के कारण इनमें छोटे-बड़े का भेद भी अवश्य रहेगा। इसलिये समाजवादी जो प्रति दिन ईर्ष्या को भड़का कर मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना रहे हैं, यह मनुष्य समाज के सर्वनाश के उपाय हैं। जो वर्ग इस समय श्रमजीवी-समाज का शोषण करके धन का दुरुपयोग कर रहा है, उसके हाथ से शक्ति छीन कर सदुपयोगी वर्ग के हाथ में शक्ति देना तो ठीक है, और यही मनुष्य-समाज का उचित ध्येय है। किन्तु दुरुपयोगी से छीन कर सदुपयोगी वर्ग के हाथ में शक्ति देना दूसरी बात है, और वर्गहीन समाज बनाना दूसरी बात, एक का आधार न्याय है, और दूसरे का ईर्ष्या और प्रति हिंसा। एक में प्रकाश है, और दूसरे में धुआं और गर्मी,

यही दोनों में भेद है। इसलिये हम तो यह चाहते हैं, कि सदाचार और विद्या के आधार पर मनुष्यों का वर्गीकरण हो। सबके साथ यथायोग्य व्यवहार हो। इस प्रकार यह तीन भेद हैं—

पूंजीवादी	=	अन्याय
समाजवाद	=	अन्धाधुन्ध न्याय।
वर्ण-व्यवस्था	=	सबके साथ प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथा-योग्य व्यवहार।

वर्गसहयोगो न तु वर्गविरोध

Class co-operation and not class war.

याद रहे, कि जहां तक अन्याय के साथ युद्ध है, हम समाजवादियों के साथ हैं, किन्तु न अपूज्यों की पूजा करो, न पूज्यों का अपमान करो। यह पिछला भाग समाजवादी भूल जाते हैं। बस; मिल कर चलो।

वर्ण-व्यवस्था का तीसरा सूत्र है—

विना हेतुं न निग्रहानुग्रहौ

वर्गों को समूल नष्ट करने का उपाय समाजवादियों ने यह सोचा है, कि सम्पत्ति पर, विशेष कर उत्पादक द्रव्यों पर, व्यक्ति का अधिकार समूल नष्ट कर दिया जाय। ममता धरती पर न रहे। समाजवादी यह भूल जाते हैं, कि उनका शत्रु पूंजी नहीं, किन्तु पूंजी का दुरुपयोग है।.

पूंजीवादी लंगड़े हैं, क्योंकि वह पूंजीपतियों पर कोई अंकुश नहीं रखते। वह जिस प्रकार चाहें पूंजी का दुरुपयोग करें, और जिस प्रकार चाहें श्रमजीवियों का रक्त चूसें। यह अन्याय है, और यह तो धरती से जितनी जल्दी मिट जाय, उतना ही जल्दी धरती माता का बोझ हल्का हो। पूंजीवाद में इनाम है, दण्ड नहीं, अनुग्रह है, निग्रह नहीं। दूसरी ओर समाजवादी लंगड़े हैं। वह ममता का बिलकुल लाभ नहीं उठाना चाहते। वह एक ओर तो मनुष्य को स्वभाव से स्वार्थी मान कर, उससे पूंजीवाद का अधिकार छीनना चाहते हैं, दूसरी ओर उसी मनुष्य को ठोक पीट कर समाज का निष्काम सेवक और महात्मा बनाना चाहते हैं। वह यह भूल जाते हैं, कि जो मनुष्य दण्ड के भय के विना सीधा नहीं चलता, वह उचित पारितोषिक न मिलने से काम नहीं करता। रहे महात्मा, वह तो दोनों अवस्थाओं में एक रस हैं। उनके

लिये तो यह नियम है ही नहीं। किन्तु संसार में बहुत बड़ी संख्या साधारण मनुष्यों की है, वह तो निग्रह और अनुग्रह दोनों मांगते हैं। इसलिए कुछ मनुष्यों को सम्पत्ति का सदुपयोग करते देख कर, सबको सम्पत्ति देना जैसा अन्याय है, कुछ मनुष्यों को सम्पत्ति का दुरुपयोग करते देखकर, सबकी सम्पत्ति छीनना उतना ही बड़ा अन्याय है। पहले का फल आलस्य और प्रमाद है, दूसरे का फल उत्साह हीनता और मन्दबुद्धिता है। छोटी से लेकर बड़ी तक कोई भी पूंजी बुरी नहीं, जब तक उसका दुरुपयोग न हो। कौन सा समाज कितने तक पूंजी पर व्यक्ति का अधिकार रहने दे, यह उस समाज की विद्या और सदाचार के विकास पर निर्भर है। जितनी बड़ी पूंजी दो उतना ही उत्तरदायित्व अधिक है। इसलिए उस पर अधिकार के लिए उतनी ही अधिक योग्यता चाहिये।

(१) सम्पत्ति पर निरंकुश अधिकार पूंजीवाद है।

(२) सम्पत्ति पर अंधा आक्रमण समाजवाद है।

(३) जो सम्पत्ति का सदुपयोग करे उस से न छीनना, और जो दुरुपयोग करे उसके पास न रहने देना, यह वर्णव्यवस्था है। इसमें भय और उत्साह, दण्ड और पारितोषिक, निग्रह और अनुग्रह, दोनों टांगें पूरी हैं। इसलिए वर्ण-प्रबन्ध दो टांगों से दौड़ता है, लंगड़ा नहीं है। इसीलिए कहा है—

बिना हेतुं न निग्रहानुग्रहौ।

No punishment and reward
without discrimination.

यह वर्ण-व्यवस्था का तीसरा सूत्र है।

वर्ण-व्यवस्था का चौथा सूत्र है—

बिना लक्ष्यं न विद्या।

संसार में जितनी समाज-व्यवस्था आज तक बनी अथवा बनेंगी, सबका उद्देश्य है श्रेष्ठतम मनुष्यों के हाथ में अधिकार देना। परन्तु इसके लिए, यह आवश्यक है, श्रेष्ठतम मनुष्य उत्पन्न भी किये जावें। इसीलिये वर्ण-व्यवस्था के इस अङ्ग को पूर्ण करने के लिए. आश्रम-व्यवस्था की गई है। आज तक संसार में जितनी शिक्षा-प्रणाली देखी जाती हैं, सब में बालकों की शिक्षा लक्ष्य-हीन होती है।

मनुष्य-समाज के तीन शत्रु हैं। अभाव, अन्याय और अविद्या। जब हमें इनसे लड़ने वाले योद्धा तैयार करने हैं, तो जितनी छोटी आयु में इनमें से

एक लक्ष्य चुन के उसके लिये साधना की जाय, उतना ही अच्छा फल मिलेगा, यह एक इतना सीधा-सा तथ्य है, कि इसे सुनाते समय आश्चर्य होता है। क्या इतनी सीधी सी बात भी सुनानी पड़ेगी। परन्तु इस से अधिक आश्चर्य की बात है, कि सुनाने से भी लोग नहीं समझते और समझ भी लें, तो चलने का यत्न तो कोई करता ही नहीं।

संसार में दीक्षा की, लोक को साक्षी करके व्रत धारण करने की, बड़ी महिमा है। सभी देशों में पति-पत्नी एक दूसरे के सुख-दुःख में सहायक होने की दीक्षा लेते हैं। सब ही देशों में सैनिक लोग झण्डे के सामने खड़े होकर राष्ट्र की दीक्षा लेते हैं, यह दीक्षा तो रूस तक में ली जाती है। बस इसी दीक्षा का लाभ लेकर शिक्षा का प्रारम्भ करना और फिर उस दीक्षा के अनुसार ही शिक्षा देना ब्रह्मचर्य्याश्रम का तत्त्व है।

इसमें हर एक विद्यार्थी अपना लक्ष्य अपनी इच्छा के अनुसार चुनता है। अपने लक्ष्य का वरण करता है, इसीलिए वह लक्ष्य उसका वर्ण, और यह व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था कहलाती है। यदि संसार में सच्चे मनुष्य बनाने हैं, तो पहिले वर्ण-दीक्षा दो, फिर शिक्षा। बिना नक्शे की चिनाई मत करो। इस तथ्य को पहिचानते ही बेकारी (Unemployment) संसार से विदा हो जायगी। इसलिए कहा है—

No Education without design.

अन्त में इन चार सूत्रों को फिर दोहराते हैं

गणाद् गुणों गरियान्	Quality not Equality.
वर्गसहयोगी नतु वर्गविरोधः	Class-Cooperation not Class war.
विना हेतुं न निग्रहानुग्रहौ	No punishment and reward without discrimination.
विना लक्ष्यं न विद्या	No Education without design

यह चार सूत्र भावी मानव-समाज की व्यवस्था के चार स्तम्भ हैं, जिन पर परमात्मा की कृपा की छत है। इस घर के नीचे मनुष्य-जाति विश्राम लेगी।

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

'ही' या 'भी'

अर्थात्

रामराज्य साम्यराज्य

समाजवादी ने चिल्लाकर कहा—लोगो! नया युग आ रहा है, नया प्रकाश आ रहा है। अब तुम्हारे सब दुःखों का अन्त हो जाएगा। तुम 'राम-राज्य' के स्वप्न देखना बन्द करदो। अब उससे भी बढ़ कर 'साम्यराज' आ रहा है।' राह चलता किसान खड़ा हो गया, और कहने लगा "रामराज्य में तो हम सुखी थे। महाराज! आप उस राज्य को बुरा क्यों कहते हैं?" समाजवादी ने चिल्ला कर कहा—"उस समय के लोग मूर्ख थे। अपने कष्टों को नहीं पहचानते थे। यदि वे अपने कष्टों को पहचानते तो रामराज्य धरती पर कभी रह न सकता था।" मैं पास खड़ा यह संवाद सुन रहा था। मैंने इस नवयुग प्रचारक से हाथ जोड़ कर कहा—"महाराज! उस समय के लोग मूर्ख न थे। नाहीं वे आत्म-गौरव से हीन थे। हाँ, उस समय तो ये कष्ट ही न थे। उसका कारण यह था, कि उन्होंने इन कष्टों का पहले से ही प्रतिकार कर लिया था।" इस पर प्रचारक महाशय बहुत बिगड़े और कहने लगे, कि जब तक आप सरीखे दकियानूसी, लोग मर न जावेंगे तब तक संसार का कल्याण न होगा। मैंने हाथ बांधकर कहा—महाराज! मुझे समझा लीजिये, जब मैं दकियानूसी विचार छोड़ दूंगा, तो आप ही मिट जाऊंगा। आप को मुझे फाँसी पर लटकाने का कष्ट भी न उठाना पड़ेगा, पर पहले हमारी भी तो सुनिये। इस पर नये युग के कठमुल्ला बड़ी

कठिनता से मेरी बात सुनने को उद्यत हुए। मैं भी यह समझकर, कि यदि आज अपनी न सुना सका, तो फाँसी पर लटका दिया जाऊँगा, जान लड़ाकर अपनी कहानी कहने लगा। मैंने कहा—महाराज! इस संसार के तीन शत्रु हैं। अभाव, अन्याय और अज्ञान।

देखिये, एक गाँव में यदि अनाज उत्पन्न न हो, अथवा उत्पन्न होने पर ओले, टिड्डी आदि से फसल नष्ट हो जाये, तो उस गाँव के लोग अनाज के अभाव से दुःखी होते हैं। यह दुःख अभाव का दुःख है। अब यदि उस गाँव में अनाज तो उत्पन्न हो, दो गाँव भर के खाने के योग्य, परन्तु दो लठैत पहलवान सारे गाँव का अनाज छीनकर अपने कोठों में भर लें, और कहें, कि हम अपने अतिरिक्त किसी को न खाने देंगे, तो उस गाँव के लोग लोग के अभाव से नहीं किन्तु अन्याय से दुखी होंगे। फिर यदि गाँव में अनाज भी भरपूर हो, और सबको ठीक-ठीक मिल भी जाए, परन्तु खाने वाले खाना न जानते हों, तो उस गाँव के लोग न अभाव से दुःखी हैं, और न अन्याय से, किन्तु अज्ञान ही उस गाँव के दुःख का कारण है। इन तीन शत्रुओं से लड़ने के लिये यदि हम पहले से ही तय्यारी करें, तो हम अच्छी प्रकार लड़ सकेंगे। परन्तु दुःख तो यही है, कि हम इन शत्रुओं से लड़ने की तैयारी तो करते नहीं, प्रत्युत देश, वेश, भाषा, भूषा के नाम पर परस्पर लड़ रहे हैं। हम जानते हैं, कि हमें तीन प्रकार के योद्धाओं की आवश्यकता पड़ेगी। उनके बिना हमारा गुजारा नहीं। परन्तु फिर भी किसी देश में, इन तीन प्रकार के मनुष्यों की तय्यारी का सामान, किसी भी देश में दृष्टिगोचर नहीं होता। हमारी अवस्था ठीक ऐसी है, मानो हम चारपाई बनाने के लिए बढ़ई से चार पावे न गढ़वाकर वृक्षों की शाखाओं में से, पावे की आकृति जैसी चार टहनियाँ काटकर उन्हें किसी प्रकार चार डण्डों से बाँधकर चारपाई बना रहे हों। भला इस प्रकार की चारपाई पर भी कभी कोई सुख की नींद सोया है?

बचपन से कोई बालक इस बात की तैयारी नहीं करता, कि वह शिक्षक, रक्षक और पोषक इन तीनों में से क्या बनेगा? कोई बालक यह विचार कर विद्या आरम्भ नहीं करता, कि उसे अभाव, अन्याय तथा अविद्या में से किस शत्रु के साथ लड़ने की विशेष तैयारी करनी है। भला महाशय जी! विचारिये तो सही, ईंट पत्थर का मकान तो पीछे बनता है, किन्तु उसका नक्शा पहले बनाया जाता है। कोई मालिक यदि राज-मजदूरों को बुला कर कहने लगे—बनाओ और जब राज पूछें क्या बनावें? तो कह दे,

कि कुआं, बावड़ी, पाठशाला, भवन कुछ ही बनाओ, परन्तु बनाओ अवश्य। ऐसी अवस्था में राज उस मालिक को पागल समझेगा। हमारी भी यही दशा है। जब हम अपने बच्चों को पाठशाला में पढ़ने भेजते हैं तो हम भी अध्यापक से यही कहते हैं—इस बच्चे को बना दीजिये। क्या ? पूछने पर हमारा उत्तर यही होता है, कि जो आपका जी चाहे। भला विचारिये तो सही, कि जो उल्टा व्यवहार आप ईंट लकड़ी, कपड़े आदि से नहीं करते, वह अपनी सन्तान के साथ करते हैं, और फिर चिल्लाते हैं, कि हमारी इच्छा के अनुकूल बच्चे नहीं बनते। जिनको आप अपनी इच्छा के अनुसार बनाते ही नहीं, फिर वे आपकी इच्छानुसार कैसे बन जाएँ ? इस पर समाजवादी प्रचारक बात काटकर बोल उठे मनुष्य कोई लकड़ी और काठ के खिलौने तो नहीं जो कुम्हार और बढ़ई आपकी इच्छानुसार बना डालें। मैंने प्रर्थना की—महाशय जी ! हम ऐसी बहकी बातें नहीं करते हैं। मनुष्य-स्वभाव मोम की भांति मोड़ा-तरोड़ा नहीं जा सकता। रहस्य इतना गहरा नहीं, कि हम इसे समझते न हों। परन्तु तनिक सोचिए तो सही हमने कब कहा, कि किसी को बलपूर्वक ठोक-पीटकर अपने सांचे में बना दो। हमारा कहना तो यह है, कि प्रत्येक बालक इन तीनों में से अपना सांचा स्वयं चुने। आपको यह तो मानना ही पड़ेगा, कि पहले से तैयार मनुष्य मनमाने बने मनुष्य की अपेक्षा, अपने शत्रुओं का अधिक अच्छी प्रकार सामना कर सकेंगे। सुरक्षित सेना की छोटी सी टुकड़ी सहस्रों अशिक्षित लम्बे, चौड़े सुडोल जंगलियों का विध्वंस कर सकती है। यह ऐसा पाठ नहीं है, जिसे इतिहास के पृष्ठों में खोजना पड़ेगा।

अब इनके परस्पर सम्बन्ध पर भी ध्यान दीजिये, यह तो आप मानेंगे ही, कि धनबल तथा भुजबल की अपेक्षा ज्ञानबल अधिक महत्पूर्ण है। क्या आप नहीं जानते, कि धनबल और भुजबल की कमी भी, अन्ततोगत्वा विचारबल की न्यूनता का परिणाम है। इसलिये, मानव राष्ट्र की सब से मूल्यवान निधि विद्या की निधि है। इसलिये, इस निधि की रक्षा के लिये आपको सबसे बढ़िया मनुष्य चुनने होंगें। जो इतने सत्य-परायण हों, कि संसार की मूल्यवान् से मूल्यवान् वस्तु भी उन्हें प्रलोभन के पाश में बाँधकर सत्य डगा सके। विद्याबल के पश्चात् दूसरा स्थान भुजबल का है, विद्या तथा

भुजबल सम्पन्न मुट्ठी-भर व्यक्ति करोड़ों विद्या-बलहीन धनवानों का धन छीन सकते हैं। इसलिये पहली निधि की रक्षा से बचे हुए श्रेष्ठ मनुष्य, दूसरी निधि की रक्षा के लिये और दूसरी से बचे हुए, तीसरी निधि की रक्षा के लिये लगाये जाने चाहियें। इस अवस्था में जो व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ कार्य पर लगाये गये हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ पद भी देना ही पड़ेगा। इस पर समाजवादी बोल उठे—नहीं हमारे लिये सब समान हैं, हम किसी को बड़ा छोटा नहीं मानते। मैंने कहा महाराज जी! आप अपने को धोखा क्यों देते हैं। बताइये आपकी सभा में सभापति और सेना में सेनापति होते हैं या नहीं? उनकी आज्ञा सबको माननी पड़ती हैं, अथवा नहीं? यदि आपने 'सब समान हैं' इस झूठे सिद्धान्त का प्रचार न किया होता, तो सेना में इतनी उछृङ्खलता न होती, और उसे इस प्रकार दमन न करना पड़ता। क्या रूस में आये दिन कितने ही व्यक्ति फांसी नहीं चढ़ाये जाते? क्या वहाँ जो चाहे जिसको फाँसी दे दे, अथवा किसी न्याय के अनुसार कोई न्यायाधीश फाँसी की आज्ञा देता है? यदि कुछ एक को यह अधिकार प्राप्त है, तो सब समान कैसे हुए? जैसा सुन्दर भवन लेनिन की लाश के सोने के लिये बना है, क्या वैसा किसी जीवित के पास भी है? क्या जो अधिकार स्टालिन को प्राप्त, हैं वही सबको प्राप्त हैं? क्या मास्को के दिव्य चिकित्सालय में केवल ऊँचे-ऊँचे अधिकारियों की चिकित्सा नहीं की जाती, और छोटे अधिकारी अन्दर घुस भी नहीं पाते? क्या उनका जीवन दूसरों से मूल्यवान नहीं माना जाता? मुझे इस प्रकार बढ़ता देखा, नवयुग प्रचारक जी गरम होकर बोले—ठहरिये। मैं सहम गया और चुप हो गया। प्रचारक जी कहने लगे देखिये, हमारी समानता का अभिप्राय यह नहीं, कि सब समान हैं। मैं चकित हो कर पूछने लगा—यदि सब समान हैं, का अभिप्राय यह नहीं है, कि सब समान हैं तो क्या है—यह आप ही समझाइए। प्रचारक जी बोले—हमारा अभिप्राय यह है, कि सबको खाने, पीने, पहरने, हंसने, खेलने और उन्नति करने का अधिकार एक समान है। मैंने कहा प्रचारक जी! यह बात भी नहीं बनती। किसी पाठशाला में यदि कोई बच्चा काना हो, तो जब तक सब बच्चों की एक २ आँख फोड़ न दी जाये, या उसके एक आंख लगा न दी जाये, तब तक सब समान कैसे हुए? फिर लम्बाई चौड़ाई, मोटाई, और बुद्धि का भेद तो रहेगा ही, या सब छिल-तराश कर बराबर कर दिये जायेंगे? प्रचारक जी

कहने लगे—देखो जी आप तो प्रत्येक बात की दिल्लगी उड़ाते हैं। हमारा अभिप्राय है, कि प्रत्येक अपनी दिशा में जैसा चाहे बढ़ता जाए।

मैं—प्रचारक जी ! क्या कहा, जो पागल है, सो और पागल होता जाए ?

समाजवादी—नहीं, नहीं, हमारा अभिप्राय अच्छी बातों में उन्नति करने से है, बुरी में नहीं।

मैं—प्रचारक जी ! क्या कोई मनुष्य सब अच्छी बातों में एक सी उन्नति कर सकता है ? क्या एक ही मनुष्य डाक्टर, हलवाई, गायक सब कुछ होगा, या कोई पृथक् विद्या भी सीखेगा ?

समा०—सब पृथक् २ सीखेंगे।

मैं—तो अविद्या, अन्याय और अभाव इन शत्रुओं से एक ही लड़ेगा या भिन्न-भिन्न ?

समा०— पृथक् २ भी होंगे और थोड़ा २ सब को सीखना होगा ?

मैं—थोड़े २ की बात नहीं पूछता। मैं तो बहुत २ की पूछता हूं। यदि वे एक काम को अच्छी प्रकार सीखें और उसके लिए अपने को तैयार करें, तो आपको क्या आक्षेप है ?

समा०—नहीं ! इसमें तो कोई दोष नहीं।

इस पर मैंने प्रचारक जी से दो-चार प्रश्न और कर दिए।

मैं—आपकी सभा में सभापति कौन बनाया जाता है, जो सब से योग्य हो, अथवा जो सब से अधिक बेवकूफ ?

समा०—बेवकूफ आप जो ऐसा प्रश्न करते हैं। सभापति तो वही होगा, जो सबसे योग्य होगा।

मैं—प्रचारक जी ! ठग और चोर बहुत सयाने होते हैं। यदि वे सयाने न हों, तो दूसरों को ठगें कैसे ? क्या आपकी सभा में ठग भी सभापति बनते हैं।

समा०—अजी नहीं, सभापति तो वही बनता है जो सबसे योग्य और सच्चा हो।

मैं—ऐसा क्यों ?

समा०—क्योंकि ज्ञान और सत्य का पद सबसे ऊँचा है।

मैं—तो जो व्यक्ति अपनी सारी आयु ज्ञान और सत्य को ग्रहण करने में लगाता है, उसे बड़ा मानने में आपको क्या हर्ज है ।

समा०—नहीं, कोई हर्ज की बात नहीं ।

मैं—जनाव ! मैं तो यह पूछता हूं, कि आप उसे बड़ा मानेंगे या नहीं ?

समा०—हां, नहीं मानेंगे । कहिये, आप क्या कहना चाहते हैं ?

मैं—जनाव ! तो रामराज्य ने आपका क्या बिगाड़ा, जो उस पर आप इतने क्रुद्ध हैं, कि पूज्य महात्मा जी तक को इस शब्द का प्रयोग करने पर क्षमा नहीं कर सकते ?

समा०—देखिये, रामराज्य में तो कोई ब्राह्मण था, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई बेचारा शूद्र था ! यह अन्धेर हम कैसे सह सकते हैं ?

मैं—प्रचारक जी ! अभी तो आप माने हैं, कि अविद्या अन्याय और अज्ञान से तैयारी करके लड़ने वाले व्यक्ति रंग-रूटों से अच्छे हैं । इन्हीं का नाम तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हैं । तो फिर इन शब्दों से आप घृणा क्यों करते हैं ।

समा०—अच्छा, ब्राह्मण बड़े क्यों ?

मैं—आपकी सभा में सभापति बड़े क्यों ?

समा० – ज्ञान और सत्य के कारण ।

मैं०—इन्हीं दोनों को मिलाकर जब एक शब्द कहना हो तो ब्राह्मण कह देते हैं । फिर उससे आप नाक-भौं क्यों चढ़ाते हैं ?

समा०—इसलिये कि ब्राह्मण लोग शब्दों पर बहुत अत्याचार करते हैं ।

मैं—प्रचारक जी ! ये तो पोपराज्य की बातें हैं, रामराज्य की नहीं ।

समा०—वाह जी ! रामराज्य में भी तो रामचन्द्र जी ने एक शूद्र की गर्दन काट दी थी ।

मैं—तो रूस में जो हिसाब में गड़बड़ करे, उसे क्या दण्ड ?

समा०—गोली से उड़ाया जायेगा और क्या ?

मैं—तो यदि रामचन्द्र जी ने किसी पाखण्डी को जो मूर्ख था और ब्राह्मण बनने का ढोंग करता था यदि प्राणदण्ड दिया तो क्या बुरा किया ? उस युग के लोग बहुत धर्मात्मा थे । वे असत्य को सहन न कर सकते थे ।

समा०—नहीं जी, सब से बड़ी बात तो यह है, कि इन लोगों ने प्रत्येक

वस्तु को अपनी बपौती बना लिया है। ब्राह्मण का बेटा ही ब्राह्मण बन सकता है दूसरा नहीं।

मैं—देखिये महाराज! रामराज्य में तो विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बन सकता था। इसलिये पोपराज्य की बातें रामराज्य के सिर न थोपिये।

समा०—अच्छा, राजा का लड़का राजा बनता था न?

मैं—सो भी नहीं, सारी प्रजा ने माना तो महाराज रामचन्द्र जी को राज्य मिला। प्रजा न चाहती तो न मिलता। उन्हीं के पूर्वपुरुष राजा अंशुमान् ने अपने पुत्र असमञ्जस को प्रजा के बच्चों से दुर्व्यवहार करने पर न केवल राज्य ही न दिया अपितु देश से भी निकाल दिया। इसी प्रकार राजा जनक के ब्रह्म में लीन होने पर उपेक्षित जनता ने उसे गद्दी से उतार कर दूसरे को राजा बनाया।

समा०—अच्छा, धनपति की सम्पत्ति तो उनके पुत्र को मिलती ही थी?

मैं—सो भी नहीं, रामराज्य का तो नियम ही यह है, कि यदि कोई अपना कर्त्तव्य पालन न करे तो उसकी सम्पत्ति छीन ली जाय।

समा०—पर देखिये, हमने तो सम्पत्ति का झगड़ा ही मिटा दिया।

मैं—वाह, क्या खूब! यही तो किया न कि जुकाम होने पर आपने अपनी नाक ही उड़ा दी।

समा०—इसमें क्या हर्ज है? बला ही टल गई।

मैं—किन्तु सूँघने की शक्ति भी जाती रही।

समा०—देखिये, जब तक यह धन रहेगा सब झगड़े रहेंगे। कोई करोड़-पति होगा और कोई निर्धन। हम यह कुछ न रहने देंगे। सब समान हैं।

मैं—आप फिर वहीं आ गये। क्या आपके पुतलीघर में कम और अधिक काम करने वालों को एक-सा वेतन मिलेगा?

समा०—जी हां।

मैं—तो प्रायः लोग कम काम करना ही पसन्द करेंगे।

समा०—नहीं, नहीं, सब अपने देश का काम समझ कर एक-सा करेंगे।

मैं—यदि सब के सब ऐसे महात्मा हों तो सम्पत्ति रहने पर भी जो उत्पन्न करेंगे, वह सब राज्य के कोष में देंगे।

समा०—नहीं, मनुष्य स्वार्थी है।

मैं—तो स्वार्थी मनुष्य कम वेतन मिलने पर कम काम करता है, और

अधिक वेतन मिलने पर अधिक। फिर बढ़िया और घटिया का भेद रहेगा या नहीं ?

समा०—अवश्य।

मैं—तो जो पूँजीपति धन कमाकर श्रमियों के हित में लगायेगा और अपने पास केवल व्यय मात्र रखेगा, उसकी सम्पत्ति भी आप छीनेंगे या नहीं ?

समा०—क्यों नहीं, सम्पत्ति किसी के पास न रहेगी।

मैं—अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करने वालों की सम्पत्ति आप क्यों छीनते हैं ?

समा०—क्योंकि वह पूँजीपति है और पूँजीपति हम रखना नहीं चाहते।

मैं—उनका अपराध पूँजीपति होना है या पूँजी का दुरुपयोग करना ?

समा०—अपराध तो दुरुपयोग ही है।

मैं—तो यह कहाँ का न्याय है, कि अपराध करें दुष्ट और सजा पावें सज्जन ?

समा०—अजी, पूँजी का तो नाम ही बुरा है। उसके तो दर्शनमात्र से ही लोग पापी हो जाते हैं।

मैं—तो आप पूँजी को कहाँ भेज देंगे मंगल तारे में या चन्द्रलोक में ?

समा०—नहीं हम भेजेंगे कहीं नहीं अपितु उसे सारे राष्ट्र में बाँट देंगे।

मैं—तो सारा राष्ट्र ही पापी हो जायेगा।

समा०—तो आप क्या चाहते हैं ?

मैं—हम तो यही चाहते हैं, कि न तो इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका आदि की तरह दुरुपयोग करने वालों के पास पूंजी रहे और न रूस की भाँति सदुपयोग करने वालों से भी छीन ली जाए। हमारा उद्देश्य तो यही है, कि "सब के साथ प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।" यही ऋषि दयानन्द का 'आर्य्यराज्य' है और यही महात्मा गांधी का 'रामराज्य' है। परमात्मा करे आप भी इसी विचार के हो जावें।

समा०—अब तक तो समाजवादी प्रचारक किसी प्रकार चुप थे। परन्तु यह सुनते ही वे आग बबूला होकर बोले—बस, बस, चुप रहिये। अब की बार यह नाम लिया तो जीभ खींचली जायेगी। भाड़ में जाय तुम्हारा परमात्मा और चूल्हे में जायें तुम्हारे पीर, पैगम्बर, पादरी, पण्डित, मौलवी। इन्हीं सब ने तो अन्धेर कर डाला।

मैं—क्यों महाराज ! श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीरामचन्द्र, हजरत मुहम्मद, गुरु

नानक, महर्षि दयानन्द, श्रीरामकृष्ण, श्री अरविन्द तथा महात्मा गांधी—ये सब जो परमात्मा का नाम लेते हैं, कैसे हैं ?

समा०—सब पाखण्डी, सब पूंजीपतियों के दास। जब इनका परमात्मा ही ढोंग है, तो उसके पुजारी तो ढोंगी आप ही हुए।

मैं—महाराज ! स्वामी दयानन्द ओर महात्मा गांधी तो आँखों के सामने हैं। ये तो पूंजीपतियों से भी बड़ी सरकार से भी न डरे, क्या ये भी उनके दास हैं।

समा०—जी हाँ, आप नहीं जानते क्या, महात्मा जी जमनालाल बजाज से रुपया लेते हैं।

मैं—वे तो चर्खे की कमाई खाते हैं।

समा०—कह तो दिया, कि वे पूंजीपतियों के दास हैं।

मैं—महाराज ! पूंजीपति उनके दास हैं या वे उनके !

समा०—अच्छा जा ! मान लिया कि तुम्हारे महात्मा जी अच्छे हैं। पर सब ईश्वरोपासक तो एक से नहीं। देखो, मुसलमान भी तो ईश्वर को मानते हैं। पर इन मुल्लाओं ने तो भारत को गारत ही कर दिया।

मैं—महाराज ! मुल्लाओं के पीछे आप क्यों पड़े हैं ?

समा०—मैंने कहा तो है कि लोग बड़े धर्मान्ध हैं। जो इन की बात न माने वही छुरी का निशाना। जो गैर-मुसलिम वही कत्ल।

मैं—तो यह जो रूस में प्रतिदिन स्टालिन विरोधियों की हत्या का तांता बंधा है, यह सब किस लिये ? अभी पिछले ही वर्ष न जाने सैकड़ों मार दिए गए।

समा०—यह दूसरी बात है।

मैं—यह दूसरी बात कैसे ? यह भी तो वही बात है। अभी मैं इतना ही कह पाया था, कि १०–२० समाजवादी चिल्ला उठे—"भारत माता की जय।" आप तो 'रूस माता' की अथवा 'लेनिन पिता' की जय बोलिये, 'भारत-माता' की नहीं।

समा०—वाह, ऐसा क्यों करें ?

मैं—न आपको भारत के विचार भायें और न भारत के महात्मा। आप तो उन गुमराह मुसलमानों की तरह हैं, जिनके पैर भारत में हैं और मुंह अरब की ओर। आपके पैर भारत में हैं और मुंह रूस की ओर फिर 'भारत-माता की जय' कैसी ?

संमा०—तो आप चाहते क्या हैं ?

मैं—हम यही चाहते हैं, हमारे देश में अन्न, वस्त्रादि द्वारा संसार की निष्काम सेवा करने वाले सच्चे वैश्य हों। राष्ट्र की सम्पत्ति छीन कर स्वयं भोगने वाले असुरों और राक्षसों को नष्ट करने वाले सच्चे क्षत्रिय हों, और क्षत्रिय तथा वैश्यों को सदा सन्मार्ग पर चलाने वाले त्यागी, तपस्वी, विद्वान तथा सच्चे ब्राह्मण हों। ऐसे व्यक्ति तैय्यार करने का उद्योग बालकपन से हो, जिससे संसार का कल्याण कर सकें। मुसलमान, ईसाई, हिन्दू सब इस रामराज्य को लाने का यत्न करें। यह भारत की सभ्यता इतनी प्यारी होगी, कि संसार भर के लोग इसे अपनावेंगे। जिस दिन भारत की सभ्यता समुद्र, पर्वत, नदी सब को लांघकर फैलेगी उस दिन होगी—"भारतमाता की जय।" विदेशी रोग और विदेशी चिकित्सा दोनों को गठरी बाँधकर समुद्र में डुबो दीजिये, और भारत की सभ्यता को अपनाइये। आइये सब मिलकर बोलें—'भारतमाता की जय !'

मेरे ऐसा कहने पर बहुत से भाई तो जयकारे में सम्मिलित हो गए किन्तु एक मुसलमान भाई से न रहा गया। वे बोले—यह भारतमाता की जय तो न हुई यह तो आर्यसमाज की जय हो गई। मैंने कहा—मौलाना ! आर्यसमाज की कोई बात यदि आपकी शरियत के विरुद्ध न हो और उससे सम्पूर्ण मनुष्य समाज का भला होता हो, तो उसे अपनाने में क्या दोष है ? यह 'वर्णव्यवस्था' ऐसी ही वस्तु है। यदि आप में से भी कुछ व्यक्ति सच्चे ब्राह्मण बन कर संसार की भलाई में जीवन बिता दें, तो इसमें आपका क्या हर्ज है ? वे बेशक पण्डित रहमतउल्लाशर्मा कहलावें इसमें आपका क्या बिगड़ता है ? इसी प्रकार यदि ठाकुर मुहम्मदअलि वर्मा सचमुच पीड़ितों के रक्षक बन जाएँ, तो आपको क्या आक्षेप है ? शेष रही आर्यसमाज की बात। सो अपने विचारों की जय मनाना सबका कर्त्तव्य है। वह मैं भी मानता हूँ। देखिये मैं आप को सच्चे मुसलमान क्षत्रिय की एक सच्ची कहानी सुनाता हूँ। नवाब रहीम खानखाना एक नेक मुसलमान थे। परन्तु वे भारतीय भाषा और रहन-सहन को अपनाने में न हिचके। वे नित्य स्नान करके सबसे पहला काम दान देने का करते थे। उनकी दानपद्धति निराली थी। चौकी पर रुपया, अशरफी, पैसा सब की मिली हुई ढेरी लगा लेते थे, और आँखें नीचे करके दान देते थे। एक दिन उनके मित्र गंग कवि उनसे मिलने आये। नवाब दान कर रहे थे। यह देख गंगकवि बोले—

ऐसी कहाँ नवाब जू, सीखे देनी देन।
ज्यों-ज्यों कर ऊंचो चढ़ै, त्यों-त्यों नीचो नैन ।।

नवाब ने भी हिन्दी की कविता में ही उत्तर दिया—

देने वाला और है, जो देता दिन रैन।
दुनियां मेरा नाम ले, या विध नीचो नैन ।।

वलि जाइये इस नम्रता पर। यही नम्रता है जो ईश्वर- भक्ति से उत्पन्न होती है। इसे ही समाजवादी नष्ट करना चाहते हैं। इस पर समाजवादी बोले—हरगिज नहीं। मैंने कहा—धन्यवाद। समाजवादी बोले—भाई! यह तो बताओ, कि पढ़ाने, सैनिक-शिक्षा और व्यापार का काम तो सब जगह पाया जाता है। तुमने नई बात क्या कही जो "भारतमाता की जय" चिल्ला रहे हो और भारतीय सभ्यता की दुहाई दे रहे हो? मैंने कहा—प्रचारक जी! यही दुःख है कि इस चीज की आवश्यकता सब जगह है, पर इसे पैदा कोई नहीं करता। हम चाहते हैं कि बच्चों को आरम्भ से ऐसी शिक्षा दी जाए कि वे धन को अपना न समझ कर "देने वाला और है" यह समझ कर अपना धन प्रजा की सेवा में लगायें।

समा०—जो न लगावें तो—

मैं—क्षत्रिय उनसे छीनकर सदुपयोग करने वालों अथवा राज्य को दे दे।

समा०—तो हम में और आप में भेद क्या हुआ?

मैं— हमारे यहाँ प्रेम और दण्ड दोनों हैं पर आपके यहाँ केवल दण्ड ही है। यह 'ही' और 'भी' का भेद ही हमें और आपको अर्थात् वैदिक और रूसी सभ्यता को पृथक् करता है। सब मिलकर बोलें—

"वैदिक धर्म की जय"!
"भारत माता की जय"!

इस पर सारा स्थान जयकारों से गूँज उठा।

इतिशम्

वर्ण-व्यवस्था और उस पर आक्षेप

मनुष्य कठिन कार्य करने से कितना डरते हैं, इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण उस आन्दोलन में मिलता है, जो आजकल वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध उठाया जाता है। विरोधियों की बात तो जाने दीजिए स्वयं आर्यसमाज में एक जन-समुदाय ऐसा उत्पन्न हो गया है, जो इसका विरोध करना अपना धर्म समझता है। इस छोटी-सी पुस्तक में उन प्रश्नों का संक्षेप से उत्तर दिया गया है, जो वर्ण-व्यवस्था के विषय में लोगों की ओर से किये जाते हैं।

सबसे पहिली बात जो इसके विरुद्ध कही जाती है, वह यह है, कि वर्ण-व्यवस्था स्वयंभू है, खुदरौ है, इसके प्रचार की क्या आवश्यकता? अध्यापक सिपाही, व्यापारी, मजदूर यह लोग तो स्वयंमेव हर एक देश में होते हैं। इन के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रचार की क्या आवश्यकता है? ऐसा कहने वाले न तो वर्ण का अर्थ समझते हैं, न व्यवस्था का। उनका कहना ऐसा ही है क्योंकि हाथ, पैर, नाक, कान आदि तो सब के स्वयं ही होते हैं, फिर व्यायाम तथा उत्तम भोजन द्वारा इनको सुडौल और सुपुष्ट बनाने की क्या आवश्यकता? मकान संसार में बनते ही हैं फिर वास्तुविद्या (Engineering) की क्या आवश्यकता? बीज धरती में पड़ कर अनाज पैदा होता ही है, फिर कृषिशास्त्र की क्या आवश्यकता? यह लोग यह भूल जाते हैं, कि हर ए अध्यापक ब्राह्मण नहीं, हर एक सिपाही क्षत्रिय नहीं, हर एक व्यापारी वैश्य नहीं। ब्राह्मण केवल उन अध्यापकों का नाम है जो जीविका के लिए अध्यापक नहीं किन्तु अध्यापक के लिए अध्यापक हैं। सत्य का प्रचार जिनके जीवन का ध्येय है तथा जिन्होंने अध्यापन कार्य को व्रत मान कर ग्रहण किया है, और यश अथवा धन का बड़े से बड़ा प्रलोभन आने पर भी इस कार्य को छोड़ने के लिए तैयार नहीं!

हर एक सिपाही का नाम क्षत्रिय नहीं, किन्तु क्षत्रिय नाम उन लोगों का हैं, जिन्होंने संसार से अन्याय को मिटाने का व्रत धारण किया है और संसार

के बड़े से बड़े प्रलोभन के आने पर भी इस व्रत को छोड़ने के लिये तैयार नहीं।

हर एक व्यापारी का नाम वैश्य नहीं, किन्तु वैश्य वह व्यापारी है, जो प्रजा की दरिद्रता मिटाने के लिये धन कमाते हैं, और ब्राह्मणों और क्षत्रियों का यश होते देख कर अपने व्रत को छोड़ने के लिये तैयार नहीं।

इस प्रकार के अध्यापक, सिपाही अथवा व्यापारी खुदरो नहीं, किन्तु बचपन से व्रत धारण करके उसी के अनुसार तैयारी करने पर बड़ी कठिनता से प्राप्त होते हैं।

यह तो हुई वर्ण की बात, अब व्यवस्था को लीजिए। आवश्यकता इस बात की है, कि समाज में सबसे ऊंचा स्थान सत्य के प्रचारकों को दिया जाय फिर क्षत्रियों और फिर वैश्यों को। किन्तु इस समय सबसे ऊंचा स्थान स्वार्थी व्यापारियों अर्थात् असुरों को प्राप्त है। इस अवस्था को बदलने के लिये घोर संग्राम करना पड़ेगा, और सम्भव है इसमें लाखों जीवनों का बलिदान हो। इसलिये न वर्ण खुदरो है, न व्यवस्था। वर्ण नाम उस व्रत का है, जो अभाव अन्याय और अविद्या को मिटाने की तैयारी करने के लिये धारण किया जाता है। यह व्रत वरण और फिर उसका पालन, घोर तप और निरन्तर अभ्यास मांगता है। इसलिए वर्ण-व्यवस्था को खुद रौ कहना भूल है।

वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध तीसरा आक्षेप यह किया जाता है, कि इन नामों को यदि स्थिर रहने दिया जाय तो थोड़े दिनों में फिर वह पुरानी जन्म की वर्ण-व्यवस्था नये रूप में सामने आकर खड़ी हो जायगी किन्तु यह लोगों की भूल है। पुरानी जन्म के आधार पर खड़ी होने वाली वर्ण-व्यवस्था के प्रति लोगों के हृदय में घृणा उत्पन्न करने का सबसे अच्छा साधन, सच्ची वर्ण-व्यवस्था को स्थापित करना है। यदि जात-पाँत तोड़ कर भी लोग वहाँ के वहीं रहें जहाँ जात-पाँत तोड़ने से पहले रहते थे, तो जात-पांत तोड़ने का लाभ क्या। भंगी अथवा चमारों के कुल में पैदा होने वाला एक सच्चा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय जितना लोगों के हृदय में जन्म की जात-पांत के अन्याय के विरुद्ध भावना उत्पन्न कर सकता है, उतना हजार व्याख्यान नहीं कर सकते फिर जब लोगों ने जन्म की जात-पांत की हानियें इतनी अच्छी प्रकार देख ली हैं, तो वे इस गढ़े में कभी नहीं गिरेंगे। सच तो यह है, कि पुरानी जात-

पाँत की रूढ़ियें इसीलिये नहीं छूटतीं क्योंकि पुराने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के स्थान में नये नहीं बनाये गये। कल्पना कीजिये कि आप के सामने दो कुल हैं। एक में वही पुराने ढर्रे का अनपढ़ पुरोहित अन्धविश्वासों की रखवाली कर रहा है। दूसरी ओर एक सच्चा त्यागी, तपस्वी विद्वान पुरोहित (चाहे वह ब्राह्मण कुलोत्पन्न न हो) अपनी सङ्गति के प्रभाव से अपने यजमानों की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करे, तो जन्म की झूठी जात-पाँत से लोगों को स्वभाव से ही घृणा होगी। जाली सिक्के का जालीपन पूरी तरह तभी स्पष्ट होता है, जब असली सिक्का सामने रख दिया जाय। इसलिए सच्ची वर्ण-व्यवस्था का बनना तो उलटा झूठी जात-पाँत से और भी घृणा दिलाने वाला होगा। इसलिये वह आक्षेप भी निर्मूल है, कि इससे पुरानी जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था हमको आ घेरेगी।

वर्ण-व्यवस्था पर चौथा आक्षेप यह है, कि इसका निश्चय किस प्रकार हो। एक मनुष्य प्रातःकाल से सायंकाल तक बारी-बारी से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी के कर्म करता है। फिर वह ब्राह्मण आदि में से क्या कहलाएगा ? यह आक्षेप भी सारहीन है। इसका उत्तर भी पहिले दिया जा चुका है, वर्ण का निर्णय व्रत से होता है अविद्या, अन्याय, अभाव में से जिस किसी एक के विरुद्ध लड़ाई करने में विशेष कौशल किसी ने प्राप्त किया हो, तथा युद्ध करने का व्रत धारण किया हो, उसी से उसके वर्ण का निश्चय होता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि विशेष अभ्यास का यह अर्थ कदापि नहीं, कि वह दूसरे कर्मों का अभ्यास बिलकुल न करे। आपत्यकाल में राष्ट्र विप्लव होने पर सबको क्षत्रिय। वानप्रस्थाश्रम में सबको ब्राह्मण और दुर्भिक्षादि के समय सब को वैश्य कर्म भी करना पड़े तो करना चाहिये, किन्तु विशेष अभ्यास मनुष्य एक ही कर्म का कर सकता है, वही उसका वर्ण है।

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह किया जाता है कि डाक्टर इन्जीनियर, कलाकार, वकील आदि सैकड़ों पेशे संसार में हैं, उन्हें चार में क्यों बाँटा जाय ? यह लोग यह भूल जाते हैं, कि पेशा और वस्तु है, और वर्ण और वस्तु। चरक संहिता में लिखा है, कि एक वैद्य ब्राह्मण भी हो सकता है, क्षत्रिय भी और वैश्य भी। यदि वह आयुर्वेद विद्या की उन्नति में लगा है, और प्रजा का उपकार मात्र उसका ध्येय है तो वह ब्राह्मण है। यदि वह रणक्षेत्र में युद्ध करने जाता है, और अपने घायल साथियों को फिर युद्ध

के लिये तैयार करने में इस विद्या का प्रयोग करता है, और उसका व्रत अन्याय से युद्ध करना है, तो वह वैद्य क्षत्रिय है। यदि वह अपनी विद्या से धन कमा कर प्रजा के कल्याण के लिये दान करता है, तो वह वैद्य वैश्य है। इसलिये ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व का निर्णय व्रत से होता है पेशे से नहीं। हां व्रत तीन ही प्रकार के हो सकते हैं, और जो इन तीन व्रतों के अयोग्य हो, तो वह इनना ही व्रत धारण करे, कि समाज की शरीर से ही सेवा करूंगा। आलसी और ईर्ष्यालु होकर नहीं रहूंगा इस प्रकार व्रत चार ही हो सकते हैं। व्रतों के साधन अनेक हो सकते हैं। पेशों का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, व्रतों का चरित्र से। यही मर्म न समझ कर लोग प्रश्न कर उठते हैं कि चार ही वर्ण क्यों ?

तीसरा प्रश्न वर्ण-व्यवस्था के विरोधियों की ओर से यह किया जाता है कि यह किसी समय अच्छी रही होगी परन्तु अब यह बिल्कुल निकम्मी सिद्ध हो चुकी है। सो यह ठीक नहीं। वर्ण-व्यवस्था को भूल कर लोगों ने उसके स्थान पर जो अन्यायपूर्ण दुर्व्यवस्था प्रचलित कर दी है, उसे वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध युक्ति के रूप में उपस्थित करना अन्याय है। इस प्रकार तो जीवन मात्र ही असफल सिद्ध हो चुका है, क्योंकि सृष्टि के आदि से आज तक कोई भी अमर होने में सफल नहीं हुआ, इसलिये सब लोग जन्मते ही संखिया खाकर मर जावें। सच तो यह है, कि यद्यपि ऐश्वर्य के अत्यन्त बढ़ जाने से वर्णाश्रम व्यवस्था में कुछ ढीलापन आ गया है, किन्तु जितने समय तक इस व्यवस्था ने संसार का कल्याण किया है अन्य किसी व्यवस्था ने नहीं किया। और अब भी थोड़े ही उद्योग से फिर वैसी ही संसार का कल्याण करने वाली हो सकती है। किसी व्यवस्था का भ्रष्ट रूप उसके असली रूप के विरुद्ध युक्तिरूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। और अब ऋषि दयानन्द जैसे महापुरुष की सञ्जीवनी बूटी पाकर वर्णाश्रम-व्यवस्था फिर जीवित हो उठी है, और वह संसार को अपना चमत्कार दिखा कर रहेगी।

पांचवां आक्षेप वर्ण-व्यवस्था पर यह किया जा रहा है, कि यह अव्यवहार्य्य (Impracticable) है। इस आक्षेप के उपस्थित करने के समय स्याने लोग जो लम्बा-सा मुंह बनाते हैं वह दर्शनीय होता है।

भला विचारिये तो सही, कि सोशलिस्ट लोगों का छोटे से लेकर बड़े तक सारे पूंजीपतियों की पूंजी छीन का राष्ट्र की सम्पत्ति बना देना तो व्यवहार्य्य

(Practicable) है किन्तु सम्पत्ति का दुरुपयोग करने वाले थोड़े से पूंजीपतियों की सम्पत्ति छीन कर, शेष को भय द्वारा सीधे रास्ते लाना अव्यवहार्य्य है, यह कहाँ तक की तर्क बुद्धि है। सब की अपेक्षा कुछ की संख्या छोटी है यह तो साधरण गणित-शास्त्र की बात है। अव्यवहार्य्यता की दृष्टि से देखें तो कुछ बुरे पूंजीपतियों की सम्पत्ति छीनने तथा शेष के ऊपर भारी कर लगाने के नियम तो वर्तमान अवस्था में पेश किये जा सकते हैं, और पास भी हो सकते हैं किन्तु सम्पूर्ण सम्पत्ति छीनने के कार्य्य में जो घोर संग्राम करना होगा वह तो और भी कठिन कार्य्य है। किन्तु मेरे लिये तो कठिनता और व्यवहार्य्यता का प्रश्न ही नहीं। जिन्होंने अपराध नहीं किया, जो सम्पत्ति का सदुपयोग कर रहे हैं, उनकी सम्पत्ति छीनना अव्यवहार्य्य (Practicable) हो, तो भी नहीं छीननी चाहिए, क्योंकि यह अन्याय है। सच बात तो यह है कि यह Practicable और Impracticable की समस्या है ही रोगियों और नपुंसकों के लिये नौजवानो! उठो और अपना रास्ता काटो। जब रास्ता तैयार हो जायगा, तो यह लम्बे मुंह लटकाने वाले भी पीछे-पीछे चले आवेंगे।

छठा प्रश्न यह उठाया जाता है, कि अब हम क्या करें? सो इसका उत्तर यह है, कि जहां कहीं भी किसी नौजवान को यह समझ में आ जाय, कि वर्ण-व्यवस्था के अनुसार मनुष्य जाति का संगठन आवश्यक है वहीं:—

(१) नौजवान लोग यह विचारना आरम्भ करवें, कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इनमें से किस श्रेणी में आना चाहते हैं। ऐसे लोग दीक्षार्थी कहलावेंगे।

(२) जो नौजवान इस निश्चय पर पहुँच जावें कि वह क्या बनना चाहते हैं, वह वर्णाश्रम संघ से अथवा अपने स्थानी आर्य्य समाज से यज्ञोपवीत पूर्वक अपने वर्ण की दीक्षा ले लें। यदि उनका संस्कार विधि में दी हुई विधि के अनुसार दीक्षा लेना किसी कारण अभीष्ट न हो, तो जो उनकी दृष्टि में व्रत धारण का सबसे पवित्र मार्ग हो, उसके अनुसार व्रत धारण करलें और इसकी सूचना वर्णाश्रम संघ को दे दें।

(३) अपने नगर में वर्णाश्रम में विश्वास रखने वालों का एक गण बना लें।

(४) वर्णाश्रम संघ से नियमावली मँगा कर उसके विधिपूर्वक सभासद बन जावें।

(५) बूढ़े लोग नौजवानों को इस रास्ते पर चलने की प्रेरणा करें।

वामपक्ष या वाममार्ग

अर्थात्

दो प्रकार के सोशलिस्ट

आजकल हमारे देश में किसान और मजदूरों को आधार बनाकर जो सोशलिज्म का आन्दोलन उठा है, उसका नाम अंग्रेजी में लैफ्ट विङ्ग यानी बायाँ बाजू रक्खा गया है। पर सच पूछिये तो इस आन्दोलन में भी दो प्रकार के लोग हैं। एक वे जिनके दिल में किसानों और मजदूरों के लिए सच्ची हमदर्दी है, और बहुत से पूंजीपति जिस प्रकार इन गरीबों का खून चूस रहे हैं, उस अन्याय के विरुद्ध उनके हृदय में दिन-रात एक भयङ्कर ज्वाला दहक रही है। ऐसे महापुरुषों से हमारा मतभेद है तो केवल इतना, कि उनके कार्य करने की राह हम से अलग है, उनकी कार्य-प्रणाली में हिंसा और द्वेष का स्थान उसी प्रकार मर्यादा से अधिक है, जिस प्रकार गांधीवादियों में अहिंसा का। यह सोशलिस्ट लोग गांधीवादियों के समान ही लँगड़े हैं। गांधीवादियों के पास डण्डा नहीं और सोशलिस्टों के पास प्रेम नहीं। खैर, यह तो हुई मतभेद की बात, परन्तु जहाँ तक ध्येय की पवित्रता और लगन की सच्चाई का सवाल है, यह दोनों ही महानुभाव अर्थात् सच्चे सोशलिस्ट और गांधीवादी हमारी पूजा के पात्र हैं।

गांधीवादियों का नाम तो यहाँ प्रसङ्ग से ही आ गया है हम तो आज दो प्रकार के सोशलिस्टों का वर्णन करने चले थे। एक सोशलिस्ट तो सच्चे महात्मा लोग हैं, जिनसे चाहे हमारा मतभेद हो; किन्तु जिनके साथ हम कन्धे से कन्धा भिड़ाकर काम कर सकते हैं, और जिन विषयों में हमारा मतभेद है, उनमें भी एक दूसरे के नजदीक आने का रास्ता निकाला जा सकता है।

किन्तु बड़े दुःख की बात है, कि सोशलिस्ट लोगों में एक बहुत बड़ा जत्था ऐसे लोगों का आ मिला है, जिन्हें हम लोग वामपक्षी न कह कर वाममार्गी कहें, तो अच्छा होगा। इनके काम निम्नलिखित हैं—

(१) परमात्मा को गाली देना।

(२) जिस प्रकार पहिले लोग सब अपराध तकदीर पर थोप देते थे, इसी प्रकार अपने भी सब अपराध पूंजीपतियों पर थोप देना।

(३) ब्रह्मचर्य्य की दिन-रात खिल्ली उड़ाना।

(४) पति-पत्नी का प्रेम, माता, बहिन, पुत्री आदि के सम्बन्ध की पवित्रता, इनके सम्बन्ध में दिन-रात गन्दी चर्चा करना।

(५) खुल्लम-खुल्ला शराब पीना।

(६) किसी का पैसा, चाहे वह किसी व्यक्ति का हो, चाहे किसी संस्था का हो हजम करके जब वह माँगे, तो "हम पूंजीपतियों का पैसा हजम करना धर्म समझते हैं" इस वाक्य के साथ घूरना अथवा बेहयाई के साथ हँसना।

(७) ऋषि, महर्षि, पीर, पैगम्बर, हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद, गुरु तेगबहादुर, गुरु नानक, महात्मा रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, ऋषि दयानन्द, महात्मा गांधी सबको दकियानूसी बेवकूफ ढोंगी, पाखण्डी आदि शब्दों से याद करना।

(८) जहाँ पिटने का डर हो, वहाँ झट पैंतरा बदल कर जिस मज़हब के लोग सामने हों उनका राग अलापना।

यह ढोंगी लोग ईसाई, मुसलमान, यहूदी, सनातनी, आर्यसमाजी सबके शत्रु हैं। सच पूछिए तो यह सोशलिज्म के भी शत्रु हैं। उन्हें वामपक्षी न कह कर वाममार्गी कहना उचित है।

वाममार्गियों की दो पहिचान हैं। एक तो पञ्चमकार अर्थात्

मद्यं मांसं च मीनञ्च मुद्रा मैथुन मेव च।
एते पंचमकाराः स्यु र्मोक्षदा हि युगे युगे॥

अर्थात्, मछली खाना, मांस खाना, बिना विचार मैथुन करना, मद्य पीना और ध्यान में नाना मुद्रा लगाना। सो यहाँ मुद्रा का अर्थ पैदा समझ

लीजिये। अर्थात् छल से पराया पैसा मारना यह पञ्चमकार इनके मुख्य सिद्धान्त हैं।

इनकी दूसरी पहिचान ढोंग है।

अन्तः शाक्ता बहिः शैवा सभामध्ये च वैष्णवाः।
नाना रूप धराः कौला विचरन्ति मही तले॥

अर्थात्, अन्दर से शक्ति, बाहिर शैव, सभा में वैष्णव, जहाँ जैसा अवसर मिले ढोंग बना लेना यही इनका भी सिद्धान्त है।

इनके पुरोहित अपने साथ कामरेड की उपाधि लगाते हैं। सो इसकी व्याख्या इस प्रकार है:—

धर्मार्थ मोक्षानुत्सृज्य काम सेवा परायणः।
काम माम्रेडते यस्तु कामरेड इतिस्मृतः॥

अर्थात्, जो धर्म, अर्थ, मोक्ष सब को छोड़ केवल काम की सेवा में तत्पर रहे और कई बार काम ही काम का स्मरण करे वह 'कामरेड' कहलाता है, और लीजिये—

अहिंसा सत्य मस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं क्षमा दया।
क्षणादेव पलायन्ते कामरेडेतिकीर्त्तनात्॥

अर्थात् कामरेड शब्द का कीर्तन करते ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, दया—यह सब सद्गुण तत्क्षण पलायन कर जाते हैं।

कई सदाचारी धर्मात्मा लोग भी इस शब्द को अपने साथ लगाते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है, कि क्या अपने देश की भाषा में उन्हें कोई इस प्रकार का शब्द नहीं मिलता। बन्धु, सखा, साथी, सहयोगी, सङ्गी आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जो वह प्रयोग कर सकते हैं तो वह कामरेड शब्द का ही प्रयोग क्यों करें?

अब रहे यह वाममार्गी। सो इनसे हर प्रकार से युद्ध करना हर एक

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, आर्यसमाजी, सनातनी यहाँ तक कि सच्चे सोशलिस्टों का भी कर्तव्य है।

सब लोग सावधान रहें। इनसे बचें और इन्हें अपने अन्दर न घुसने दें। इसका सरल उपाय है संयम का जीवन। जहाँ यह आया और यह भागे। भारतमाता के सबसे बड़े शत्रु यह लोग हैं, जिन्हें देश को किसी भी वस्तु से प्रेम नहीं। परमात्मा इन्हें सुबुद्धि दे और हमें शक्ति दे कि हम संसार को और स्वयं इनको इनसे बचा सकें।

———

दीक्षा या ठेकेदारी

योरोप की सभ्यता का आज दीवाला निकल रहा है। इसका कारण क्या है ?

क्या योरोपियन लोगों में दिमाग की कमी है ? हरगिज नहीं।

रेल, तार, हवाई जहाज, बोलती तस्वीरें, बेतार का तार, टेलीवीजन, जब तक यह सब योरोपियन दिमाग की ऊंचाई की गवाही दे रही है, तब तक कौन कह सकता है, कि योरोप के पास दिमाग नहीं। जो कहेगा वह अपने ही दिमाग की कमजोरी का प्रमाण देगा।

फिर इतना ऊंचे दरजे का दिमाग होते हुए भी योरोप आज क्यों आत्म-हत्या कर रहा है। इस प्रश्न का भी कुछ उत्तर मिलना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि योरोप में दिमाग की कमी नहीं, परन्तु योरोप ने अपना दिमाग साधनों की उन्नति में लगाया हैं। प्रयोक्ता की उन्नति में नहीं।

अगर योरोप का यह आला दिमाग, साधनों की उन्नति स्थान में, मनुष्य की उन्नति में लगता, तो उस मैदान में कमाल कर दिखाता। परन्तु वह तो लगे ही वेग पूजा में, रफ्तार परस्ती में। अब प्रश्न उठता है कि क्या किसी ने मनुष्य की उन्नति में दिमाग लगाया भी है ? तो इसका उत्तर हैं आर्यों ने। उन्होंने अपना दिमाग इस खोज में लगाया और कमाल भी कर दिखाया।

आज जब कि योरोपियन सभ्यता का दीवाला निकल रहा हैं, आर्यों की इस मनुष्य बनाने वाली विद्या का गौरव और भी अधिक महत्त्व के साथ हमारे सामने आता है। योरोपियन सभ्यता की अवस्था इस समय बिना दूल्हे की बारात के समान है।

भला सोचिये, कि एक बरात में दूल्हे के चाचा, ताऊ, नाना, मामा, सखा-सम्बन्धी, नौकर चाकर सब हों, बस एक दूल्हा न हो, उसकी कैसी हँसी होगी। यही हाल योरोपियन सभ्यता का है। योरोपियन सभ्यता में एड़ी से चोटी तक सब प्रकार का वेश, भूषा का सामान, भोजन परिच्छद, यात्रा के

साधन, समाचार पहुँचाने के साधन सब कुछ अप्रतिम मिलेगा। परन्तु यदि योरोप में किसी वस्तु का अभाव है, तो इन सबको प्रयोग में लाने वाले मनुष्य का। मनुष्य के स्थान में आज वहाँ हिंसक पशु का राज्य है। इस बात का अनुभव योरोप निवासी आज भले ही न करें, किन्तु जब युद्ध का नशा उतरेगा और लोग ठण्डे होकर विचार करेंगे, तो वे अवश्य इस कमी को अनुभव करेंगे। और बातें जाने दीजिए। केवल इतनी बात विचारिए, कि युद्ध से पहले भी योरोप में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक थी। फिर युद्ध के पश्चात् तो क्या हाल होगा। फिर उससे जो घोर व्यभिचार फैलेगा उसका प्रतिकार सहस्रों वर्षों में भी न होगा। आज योरोप में देवासुर-संग्राम नहीं किन्तु देव-देव संग्राम है। प्रत्येक योरोपियन राष्ट्र के श्रेष्ठतम युवा, दूसरे राष्ट्र के श्रेष्ठतम युवाओं का संहार करने में लगे हुए हैं। इन विद्या के भण्डारों तथा चरित्र के कल्प वृक्षों को इस प्रकार समूल नष्ट होते हुए देख कर कोई सहृदय मनुष्य अविरल अश्रुधारा बहाए बिना नहीं रह सकता। परन्तु प्रश्न उठता है, कि इस रोग की चिकित्सा क्या है।

हमारा उत्तर है, कि रोग की चिकित्सा से पहिले निदान समझना चाहिए। इस रोग का निदान है, मनुष्य का अभाव। इस रोग की चिकित्सा है मनुष्यों का उत्पन्न करना।

हा हा ! इससे बढ़ कर अनर्थ क्या है, कि विद्या का अमोघ शस्त्र मनुष्यों के स्थान में हिंसक पशुओं के हाथ में दिया जा रहा है। परिणाम स्पष्ट हैं, कि जो विमान विद्या, नेक काम करने वालों पर फूल बरसाने के काम आती, वह परस्पर एक दूसरे पर बम बरसाने में काम आ रही है।

तब क्या किया जाय ?

मनुष्यों को विद्यादान देने से पहले विद्या का पात्र बना लिया जाय।

निरुक्त में क्या अच्छा कहा है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेष धिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय नमाब्रूया वीर्य्यवती यथास्याम्।

विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली, कि ब्राह्मण मैं तेरा खजाना हूँ, तूं मेरी रक्षा कर मुझे कभी ऐसे मनुष्य को न देना, जो ईर्ष्यालु हो, कुटिल हो, या जितेन्द्रिय न हो, यदि तू ऐसा करेगा, तो मैं वीर्य्यवती होऊंगी।
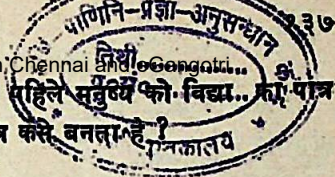
बस उससे स्पष्ट है, कि विद्या देने से पहिले मनुष्य को विद्या का पात्र बनाना आवश्यक है। मनुष्य विद्या का पात्र कैसे बनता है?

दीक्षा से

दीक्षा का अर्थ हैं ठेकेदारी। इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं। यदि सड़क पर चलते हुए एक अत्याचारी किसी दुर्बल को सताता है, और वह दुर्बल रक्षा की पुकार करता है, तो प्रायः मनुष्य वही उत्तर देते हैं, कि हम रक्षा क्यों करें? क्या हमने कोई ठेका लिया है, कि दूसरों की मुसीबत में अपना सिर भी फँसालें? यदि कभी कोई दुर्बल की सहायता करने की हिम्मत करता भी है, तो उसकी माता भगिनी अथवा पत्नी पूछने लगती हैं, कि कोई और भी बचाने गया है, कि तुमने ही ठेका ले रक्खा है। फिर यदि वह साहस करके आगे बढ़े, तो अत्याचारी फिर उससे यही प्रश्न पूछता है, क्यों जी तुम कौन हो? हम जाने अथवा यह जाने तुम्हारा बीच में क्या काम, क्या तुमने ठेका लिया है? बस यह ठेकेदारी का प्रश्न हर पग पर हमारे सामने आता है।

अब कल्पना कीजिए, कि यही प्रश्न एक क्षत्रिय के सामने आता है। वह दुर्बल पर अत्याचारा होते देखता है। वह तो पुकार की भी प्रतीक्षा नहीं करता और अत्याचारी का सामना करता है, जब अत्याचारी उससे पूछता है कि क्या तुमने ठेका लिया है, तो उत्तर मिलता है हाँ, मैंने ठेका लिया है।

बस यह ठेकेदारी ही तो दीक्षा है। यह ठेकेदारी तीन प्रकार की है। इस संसार में तीन महा दुःख हैं।

(१) अविद्या दुःख।
(२) अन्याय दुःख।
(३) अभाव दुःख।

अन्न वस्त्र आदि होते हुए भी उनका ठीक उपयोग न जानने से दुःख उत्पन्न होते हैं उनको "अविद्या" दुःख कहते हैं।

अन्न वस्त्र आदि का ठीक विभाग अर्थात् बंटवारा न होने से जो दुःख उत्पन्न होते हैं उनको "अन्याय" दुःख कहते हैं।

अन्न वस्त्र आदि के अभाव से जो दुःख उत्पन्न होते हैं, उनको "अभाव" दुःख कहते हैं।

जिन्होंने अविद्या दुःख को दूर करने का ठेका लिया है, वे ब्राह्मण कहलाते हैं।

जिन्होंने अन्याय दुःख को दूर करने का ठेका लिया है, वे क्षत्रिय कहलाते हैं।

जिन्होंने अभाव दुःख को दूर करने का ठेका लिया है, वे वैश्य कहलाते हैं।

यह दीक्षा अथवा ठेकेदारी जितनी छोटी उमर में ली जाए, उतना ही बढ़िया मनुष्य तैय्यार होता है।

क्योंकि दीक्षा लेने वाले को तैयारी के लिए उतना ही समय अधिक मिलता है। बस, इस दीक्षा का नाम ही यज्ञोपवीत संस्कार है। इस यज्ञोपवीत संस्कार के द्वार ही मनुष्य वनते थे।

आर्य पुरुषो ! सभ्यता की बरात योरोप ने तैयार की है। उसका दूल्हा तुम तैयार कर दो, चारों ओर बधाई बजने लगेगी।

समाप्त

वैदिक विचारधारा प्रसारक

हिन्दी-पुस्तकें

१. सोम सरावर : ३.०० सजिल्द
स्व० पं० चमूपति एम. ए. की भावना पूर्ण
लेखनी से लिखित, सामवेद के पावमान पर्व की सुललित व्याख्या :

२. दयानन्द चरित : स्व० पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखित १.५०
महर्षि दयानन्द का प्रामाणिक जीवन चरित्र :

३. आर्य समाज का सैद्धान्तिक परिचय : ०.४०
स्व० शान्त स्वामी अनुभवानन्द जी महाराज लिखित :

४. वैदिक सिद्धान्त : लेखक स्व० पं० चमूपति एम. ए. १.००

५. मुक्ति और उसके साधन : प्रसिद्ध आर्य विद्वान् १.००
पं० मदन मोहन विद्यासागर लिखित, आध्यात्मिक ग्रंथ :

६. जीवन ज्योति : प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० चमूपति एम. ए. ४.००
का अमर ग्रंथ । पृष्ठ ३०० । सुनहरी जिल्द :

७. वैदिक स्वाध्याय : (सजिल्द) वेद मन्त्रों की व्याख्या : ३.००

८. वैदिक-मत खंडन : ०.७५

९. आर्य समाज की विचारधारा : ०.१०
पं० क्षितीश कुमार वेदालंकार लिखित :

१०. आर्य समाज क्या मानता है ?
डा० कृष्णवल्लभ पालीवाल एम. एस. सी. पी. एच. डी. ०.०५
रीडर राजस्थान विश्व विद्यालय लिखित :

११. विश्व को आर्य समाज का सन्देश : ०.२५
भारतेन्द्रनाथ साहित्यालंकार लिखित,

१२. गो करुणानिधि : ०.१०

१३. महान् दयानन्द : पं० शिवदयालु लिखित : ०.७५

१४. कर्म सिद्धान्त : लेखक स्वामी अखिलानन्द सरस्वती : ०.७५

व्यवस्थापक "आर्योदय" १५९५ हरध्यानसिंह रोड
नई दिल्ली-५
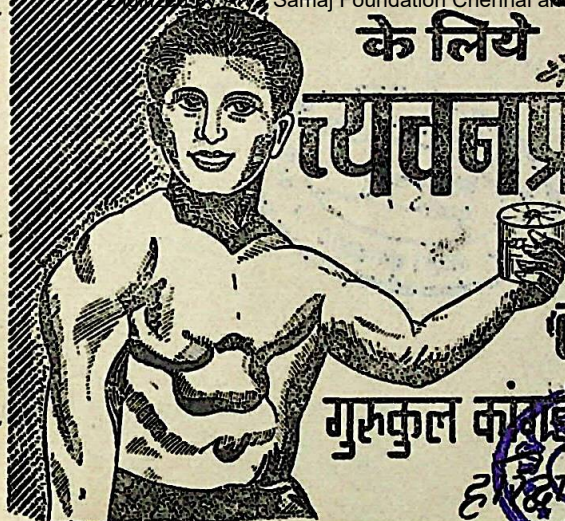
शक्ति और स्फूर्ति
के लिये
च्यवनप्राश
टानिक है
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार
गुरुकुल कांगड़ी
भीमसेनी
सुरमा
इस के दैनिक
प्रयोग से आँखें
स्वच्छ, निर्मल
एवं
निरोग रहती हैं
A USEFUL REMEDY FOR EYE DISEASES
BHIMSENI SURMA
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी (हरिद्वार)

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी-हरिद्वार

ान्तरित कर दें।

प्रभागीय निदेशक सा.वा. के द्वारा कार्यमुक्त किये जाने का संदर्भ पत्रांक	प्रभाग जहां योगदान देना था

सी क्र ३०१४/२-५ सा.वा प्रभाग, जौनपुर
ं. दिनांक
६ दि. २७-२-८८
-८८

" सा.वा. गाजीपुर
" सा.वा. आजमगढ़

क वानिकी इलाहाबाद के पत्रांक ३०४७/२-५ /२-५ दिनांक ३०-६-८८ द्वारा आपके समस्त के नये तैनाती के प्रभाग में भेज दिये गये थे। समस्त पत्र व्यवहार आपको अपने नये तैनाती के क १४३/२-५ दिनांक २२-७-८८, २८१/२-५ ५१दिनांक २०-८-८८, ६५८/२-५ दिनांक २३-९-८८ आदि संदर्भ सेआपको लगातार यह महत्वपूर्ण अभिलेखों का सम्पूर्ण चार्ज हस्तान्तरित के प्रभाग से करें।

वहेलना करते हुये अब तक लगभग साढ़े सात माह ों का चार्ज हस्तान्तरित नहीं किया है। जिससे यह पने पास रख कर अपने निजी कार्य में व्यय कर रहे भिलेखों के चार्ज हस्तान्तरित न किये जानेकारण र्यों से कठोर पत्राचार प्राप्त हो रहे हैं।

ह बात भी आई है कि आप अपने हस्तान्तरण पर रस्त कराने के लिये प्रयत्नशील है। जो राजकीय शा. देश सं. १३-४-१९७६-कार्मिक-१ दिनांक ६ २५-१०-७६ की भी अवहेलना है।

नी दी जाती है कि आप अपने पास लंबित राजकीय भागीय निदेशक सामाजिक वानिकी इलाहाबाद के रों के आदेशों का पालन विज्ञप्ति प्रकाशित होने के देश के प्रस्तर (१) (२) एवं ३ (अ) के प्राविधानों के

(रवि रंजन मजुमदार)
प्रभागीय निदेशक
सामाजिक वानिकी वन प्रभाग
इलाहाबाद

२२००० मिट्रिक टन का निर्यात

भारत ... प्रतिबन्ध हट... फैक्ट्री ने पड़... मिट्रिक टन ... सीमेन्ट का नि... अपने स्तर क... है व विदेशी... पसन्द करते... मात्रा में सीमे... एकदम पलट... में वृहद निय... अधिक सीमे...

कनोरि... इण्डस्ट्रीज लि. का बोनस

कनोरिया केमिल इण्डस्ट्रीज लि. के निदेशक मंडल ने पूंजी निर्गमन नियंत्रक की अनुमति से १० रु. मूल्य के प्रत्येक १३,४४,८०० साम्य शेयर का निर्गमन बोनस शेयर के रूप में २ निर्गमित शेयरों पर १ नया साम्य शेयरके निर्गमन की संस्तुति दी है। इस उद्देश्य से ११ मार्च १९८९ को कनोरिया केमिकल्स इण्डस्ट्रीज लि. के शेयर धारकों की अपूर्व सामान्य बैठक आयोजित की गयी है। इस बोनस शेयर के निर्गमन के पश्चात कम्पनी के शेयर पूंजी ४०३.७० लाख रुपये दी जायेगी व अधिक व सरक्षित १५४५.३७ लाख रुपये हो जायेगी। ३१ दिसम्बर १९८८ में समाप्त होने वाले ६ माह का कम्पनी का कार्य परिणाम संतोषप्रद था।

ब्रिटानिया इण्डस्ट्रीज के श्री एस. के. अलघ प्रबन्ध निदेशक नियुक्त

ब्रिटानिया इण्डस्ट्रीज लि. के निदेशक मंडल की ९ फरवरी १९८९ की बैठक में श्री एस.के. अलघ को प्रथम मार्च १९८९ से ५ वर्ष के समय के लिये प्रबन्ध निदेशक नियुक्त किया गया है। इससे पहले श्री अलघ अध्यक्ष व मुख्य प्रमुख अधिकारी थे।

श्री ई. जे. ग्रीन्सटेड वर्तमान प्रबन्ध निदेशक वापस सिंगापुर में क्षेत्रीय प्रबन्धक, एशिया, इण्टरनेशनल नाबिस्को ब्राण्ड आई एन सी के पद पर जा रहे हैं तथा श्री आर. के. लाल इस पद से कार्य मुक्त हो रहे हैं। श्री लाल व श्री ग्रीन्सटेड ... अकार्यवाहक निदेशक के पद पर ब्रिटानिया इण्डस्ट्रीज लि. में बने रहेंगे।